

# हिन्दी
# प्रत्यभिज्ञाहृदय

डॉ० शिवशंकर अवस्थी

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

॥ श्रीः ॥

**काशी संस्कृत ग्रन्थमाला**

२००



महामाहेश्वराचार्यराजानकश्रीक्षेमराजकृतं

# प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

'तत्त्वबोधिनी' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

**डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी शास्त्री**

एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी), पी-एच० डी०

(संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर)




**चौखम्भा संस्कृत संस्थान**

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

**पो० बा० नं. ११३९**

के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन ( गोल

**वाराणसी - २२१ ००१ (**

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : चारू प्रिन्टर्स, वाराणसी
संस्करण : तृतीय, वि० सं० २०५६
मूल्य : रु. ५०.००



फोन : ३३३४४५

प्रधान शाखा :

**चौखम्भा संस्कृत भवन**

**पोस्ट बाक्स नं० ११६०**
चौक, (दि बनारस स्टेट बैंक बिल्डिंग)
**वाराणसी-२२१ ००१ ( भारत )**
✆ : ३२०४१४

अन्य प्राप्तिस्थान :-

**चौखम्भा पब्लिकेशन्स**

४२६२/३ अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-११०००२
✆ : ३२६८६३९

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

200



# PRATYABHIJÑĀHṚDAYAM

OF

MAHĀMĀHEŚVARĀCĀRYA

RĀJĀNAKA ŚRĪ KṢEMARĀJA

with

*The Tattvabodhinī Hindī Commentary and Translation*

*by*

Dr. SHIVASHAṄKARA AWASTHI

*M. A. (Sanskrit and Hindi), Ph. D.*

*(Sanskrit Department, Gorakhpur University, Gorakhpur)*

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

*Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature*

**Post Box No. 1139**

K. 37 / 116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagin)

VARANASI - 221001 (INDIA)

**Phone : 333445**

**Third Edition : 1999**

Branch office :-
**CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN**
**Post Box No. 1160**
CHOWK (The Benaras State Bank Bldg.)
VARANASI - 221001
✆ : **320414**

Also available at :-
**CHAUKHAMBHA PUBLICATIONS**
4262/3, Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi-110002
✆ : **3268639**

# भूमिका

श्रीकण्ठं वसुमन्तं सोमानन्दं तथोत्पलाचार्यम् ।
लक्ष्मणमभिनवगुप्तं वन्दे श्रीक्षेमराजं च ॥

—शारदातिलक-टीका

## प्रत्यभिज्ञा : इतिहास, साहित्य और दर्शन

( १ ) **इतिहास**—वृद्धि और लघुता आदि के विद्यमान रहते हुए भी 'स एव अयम्' ( यह वही है ) इस प्रत्यभिज्ञा अथवा पहचान के बल से वर्णव्यक्ति, पुरुषव्यक्ति अथवा व्यक्ति-सामान्य का निर्देश भिन्न-भिन्न [1]दार्शनिकों की परम्परा में पाया जाता है। वहाँ, प्रत्यभिज्ञा शब्द सामान्यतया पहचान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'आत्मज्ञान' ही प्रत्यभिज्ञा का विशेष अर्थ है। प्रति-प्रतीप अर्थात् ज्ञात होने पर भी मोहवश विस्मृत तत्त्व का, अभि—अभिमुख रूप से—स्फुटतया जो ज्ञा—ज्ञान अर्थात् प्रकाश है उसे प्रत्यभिज्ञा के नाम से कहा जाता है। सत्य तो यह है कि स्वात्मावभास का पूर्व में अनुभव न हुआ हो ऐसा नहीं है क्योंकि वह अविच्छिन्न रूप से प्रकाशित रहने वाला तत्त्व है। शास्त्र, अनुमान एवं साधना द्वारा, वर्तमान में पूर्वानुभूत ईश्वरात्मक तत्त्व के अभिमुख होने पर प्रतिसन्धान के बल से 'वही ईश्वर मैं हूँ' इस प्रकार का जो ज्ञान उदित होता है उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।

'प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। प्रतीपमिति—स्वात्मावभासो हि न अननुभूतपूर्वो अविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य, स तु तच्छक्तयैव विच्छिन्न इव विकल्पित इव लक्ष्यत इति वक्ष्यते।

प्रत्यभिज्ञा च भातभासमानरूपानुसन्धानात्मिका 'स एवायं चैत्र' इति प्रतिसन्धानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम्। लोकेऽपि एतत्पुत्र एवङ्गुण एवं रूपक इत्येवं वा; अन्ततोऽपि सामान्यात्मना वा ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे प्रति-

---

१. (क) अथापि नाम प्रत्युच्चारणमन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि प्रत्यभिज्ञालम्बनभावेन वर्णसामान्यानां अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद्या वर्णेष्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया।—ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य देवताधि०।

(ख) असन्निहितविषयत्वं च स्मृतिरूपत्वं, सन्निहितविषयं च प्रत्यभिज्ञानम्।—भामती, अध्यासभाष्य।

सन्धितप्राणितमेव ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा इति व्यवह्रियते। इहापि प्रसिद्धपुराणसिद्धान्तागमानुमानादिविदितपूर्णशक्तिस्वभावे ईश्वरे सति स्वात्मन्यभिमुखीभूते तत् प्रतिसन्धानेन ज्ञानमुदेति—'नूनं स एव ईश्वरोऽहमिति'।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी।

प्रत्यभिज्ञा ऐसा ज्ञान है जो एक साथ संस्कार और इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होता है। संस्कार द्वारा पूर्वदृष्ट व्यक्ति का स्मरण होता है और चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उसी का साक्षात्कार! इस प्रकार स्मृति और अनुभव पर आश्रित एक व्यक्ति-विषयक बोध को प्रत्यभिज्ञा कहना संगत होगा।

'स्मरणानुभवारूढा सामानाधिकरण्यधीः।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्तिता॥—भास्करकण्ठ

'स एव ईश्वरः अहम्' इस अर्थमें प्रत्यभिज्ञा का प्रयोग सर्व प्रथम उत्पलाचार्य ने त्रिकशासन के दार्शनिक पक्ष की स्थापना करने वाले अपने गुरु 'शिवदृष्टि' के रचयिता सोमानन्द की शिक्षाओं को सुदृढ रूप प्रदान करते हुए 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका' नामक ग्रन्थ में किया था। ऐसी मान्यता है कि सिद्ध सोमानन्द, जो सम्भवतः वसुगुप्त के शिष्य हैं, सम्पूर्ण काश्मीरिक शैवदर्शन के तार्किक पक्ष—प्रत्यभिज्ञादर्शन के उद्भावक[1] हैं और आचार्य उत्पल उसके व्याख्याकार। इसके धार्मिक (श्रद्धात्मक) पक्ष की स्थापना भी स्पन्ददर्शन के नाम से आचार्य वसुगुप्त[2] ने, श्रीकण्ठ द्वारा प्राप्त 'शिवसूत्रों' एवं स्वयं रचित 'स्पन्दकारिका' में की थी।

---

१. परमोपादेयस्वप्रकाशस्वात्मेश्वरप्रत्यभिज्ञानपरस्य तर्कस्य कर्तारो व्याख्यातारश्च परं नमस्कर्तव्या इति······आह :—

श्री सोमानन्दबोधश्रीमदुत्पलविनिःश्रिताः। जयन्ति संविदामोदसन्दर्भा दिक्प्रसारिणः।—तन्त्रालोक

२. Leaving aside the Āgam Shāstra, including, the 'Shiva Sūtras' of which the authorship is attributed to 'Shiva' himself, we have to regard 'Vasugupta' and 'Somānanda' as the human founders of the 'Advaita Shavism', which is peculiar to Kashmir. Of these two again, while Vasugupta gave out the doctrines merely as revelations and articles of faith, Somānand, who was most likely a pupil of Vasugupta, laid the foundation of their philosophy.

—Kashmir Shaivism, P. 22-23.

यद्यपि[1] शैव दर्शन या शिवागम अपने मूल रूप में अत्यन्त पुरातन है किन्तु शिवाद्वयवाद के रूप में सर्व प्रथम इसका प्रादुर्भाव विक्रम की नवम शताब्दी में काश्मीर में हुआ। समग्र शास्त्र, संसार में आने के पूर्व परावाणी के रूप में स्थित रहते हैं। यह अव्यक्त दशा है। व्यक्त होने की इच्छा से परावाक्, पश्यन्ती का रूप ग्रहण करती है जिसमें वाच्य और वाचक यद्यपि अविभक्त रूप में ही विद्यमान रहते हैं तथापि यह स्तर, भावी विश्व का अहन्तात्मक मूल उपादान—विन्दु है। इसके पश्चात् मध्यमा दशा में सम्पूर्ण वाच्यवाचक-प्रपञ्च का विभाग घटित होता है। यहीं परमेश्वर, अपनी चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक शक्तियों द्वारा, जिन्हें क्रमशः ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, अघोर और वामदेवात्मक पञ्चमुख कहा जाता है, अभेद, भेदाभेद, और भेदात्मक निखिल शास्त्र की अवतारणा करते हैं जो आगे चलकर वैखरी अवस्था के रूप में विकसित होता है।

इन्हीं पांच मुखों से प्राचीन काल में चौसठ तन्त्र तथा शैवागमों का जन्म हुआ था। कलियुग के प्रभाव से उपदेशकों की परम्परा का ह्रास हो जाने पर ये शास्त्र भी नष्ट होगये। बहुत काल पश्चात् कैलास पर्वत पर घूमते हुए भगवान् शङ्कर ने श्रीकण्ठ मूर्ति धारण करके दुर्वासा मुनि को त्रिकमत के प्रचार की आज्ञा दी। उन्होंने त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ नामक मानस सिद्धों को, जो शिवशासन से सम्बद्ध अद्वैत, द्वैताद्वैत, और द्वैतवाद के व्याख्याता थे, उन उन सम्प्रदायों के प्रचारार्थ नियुक्त किया। इनमें त्रैयम्बक-सम्प्रदाय-सिद्ध, अद्वयवादी त्रिकमत ही सर्वप्रशस्त माना गया है। आचार्य सोमानन्दपाद इन्हीं दुर्वासा के मानसपुत्र त्र्यम्बक की परम्परा में उत्पन्न हुए थे। त्र्यम्बक की चौदह पीढ़ियों के अनन्तर पन्द्रहवें मानस पुत्र ने विवाह किया और उससे सङ्गमादित्य नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। सङ्गमादित्य से वर्षादित्य, वर्षादित्य

---

१. इह खलु परपरामर्शसारबोधात्मिकायां परस्यां वाचि सर्वभावनिर्भरत्वात् सर्व शास्त्रं परबोधात्मकतयैव उज्जृम्भमाणं सत्, पश्यन्तीदशायां वाच्यवाचका-विभागस्वभावत्वेन असाधारणतया अहम्प्रत्यवमर्शात्मा अन्तरुदेति, अत एव हि तत्र प्रत्यवमर्शकेन प्रमात्रा परामृश्यमानो वाच्योऽर्थोऽहन्ताच्छादित एव स्फुरति, तदनु तदेव मध्यमाभूमिकायामन्तरेव वेद्यवेदकप्रपञ्चोदयाद् भिन्नवाच्यवाचक-स्वभावतया उल्लसति। तत्र हि परमेश्वर एव चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियात्मक-वक्त्रपञ्चकासूत्रणेन सदाशिवेश्वरदशामधिशयानः तद्वक्त्रपञ्चकमेलनया पञ्च-स्रोतोमयं अभेद–भेदाभेद–भेददशोद्दङ्कनेन तत्तद्भेदप्रभेदवैचित्र्यात्म निखिलं शास्त्रमवतारयति, यद् बहिर्वैखरीदशायां स्फुटतामियात्।

—तन्त्रालोक-टीका, आ० १ श्लो० १८

से अरुणादित्य, अरुणादित्य से आनन्द, और आनन्द के पुत्र स्वयं सोमानन्दपाद थे —ऐसा 'शिवदृष्टि'[1] नामक अपने ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है। सोमानन्द ( ९००–९५० वि० ) के शिष्य उत्पलाचार्य (९५०–१००० वि०)

---

१. शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन् महात्मनाम् ।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया ॥ १०७ ॥
कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरे ।
कलापिग्रामप्रमुखे समुच्छिन्ने च शासने ॥
कैलासाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया ।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥
मुनिं दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम् ।
नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम् ॥
ततः स भगवान् देवादादेशं प्राप्य यत्नवान् ।
ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम् ॥
तस्मिन् सङ्क्रमयामास रहस्यानि समन्ततः ।
सोऽपि गत्वा गुहां सम्यक् त्र्यम्बकाख्यां ततः परम् ॥
तन्नाम्ना चिह्नितं तत्र ससर्ज मनसा सुतम् ।
खमुत्पपात संसिद्धस्तत्पुत्रोऽपि तथा तथा ॥
सिद्धस्तद्वत् सुतोत्पत्त्या सिद्धा एवं चतुर्दश ।
यावत्पञ्चदशः पुत्रः सर्वशास्त्रविशारदः ॥
स कदाचिल्लोकयात्रामासीनः प्रेक्षते ततः ।
बहिर्मुखस्य तस्याथ ब्राह्मणी काचिदेव हि ॥
रूपयौवनसौभाग्यबन्धुरा सा गता दृशम् ।
दृष्ट्वा तां लक्षणैर्युक्तां योग्यां कन्यामथात्मनः ॥
स धर्मचारिणीं सम्यग् गत्वा तत्पितरं स्वयम् ।
अर्थयित्वा ब्राह्मणीं तामानयामास यत्नतः ॥
ब्राह्मणेन विवाहेन ततो जातस्तथाविधः ।
तनयः स च कालेन कश्मीरेष्वागतो भ्रमन् ॥
नाम्ना स सङ्गमादित्यो वर्षादित्योऽपि तत्सुतः ।
तस्याप्यभूत् स भगवानरुणादित्यसंज्ञकः ॥
आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्बभूव तथाविधः ।
तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः ॥ १०७–१२० ॥

—शिवदृष्टि, आ० ७.

थे। उत्पल के पुत्र और शिष्य थे लक्ष्मणगुप्त। लक्ष्मणगुप्त के शिष्य आचार्यवर्य श्री अभिनवगुप्त ( १०००–१०५० वि० ) थे, जिन्होंने आगम, शिवाद्वयवाद तथा काव्यशास्त्र से सम्बद्ध विपुल साहित्य का निर्माण किया। अभिनव गुप्त के शिष्य प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता राजानक क्षेमराज हैं। इनके शिष्य श्री योगराज हुए।

आचार्य वसुगुप्त की दूसरी शिष्य परम्परा निम्नाङ्कित है :—

कल्लट ( दशम शतक विक्रमीय )
|
प्रद्युम्न भट्ट
|
प्रज्ञार्जुन
|
महादेव भट्ट
|
श्रीकण्ठ भट्ट
|
भास्कर

धार्मिक पक्ष से सम्बन्ध रखने वाले 'शिवसूत्रों' की प्राप्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार के उल्लेख मिलते हैं :—

१. आचार्य वसुगुप्त ने स्वप्न में शिवसूत्रों से उट्टङ्कित एक शिलातल की जानकारी प्राप्त की। जागने पर वहाँ से उन सूत्रों का उद्धार किया और कल्लट आदि शिष्यों में प्रचारित किया। आज भी महादेव गिरि-स्थित वह शिला शङ्करपल ( शङ्करोपल ) के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु उसमें किसी प्रकार के भी अक्षर उत्कीर्ण नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में क्षेमराज के अतिरिक्त कल्लट की निम्नलिखित कारिका उद्धृत की जाती है :—

लब्धं महादेवगिरौ महेशस्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धोः।
स्पन्दामृतं यद्वसुगुप्तपादैः श्रीकल्लटस्तत्प्रकटीचकार॥

किन्तु यह श्लोक कल्लटभट्ट का है इसमें सन्देह है।

२. 'शिवसूत्र' भगवान् शङ्कर की रचना है; सिद्ध द्वारा वसुगुप्त को इसकी प्राप्ति हुई थी—

इति प्रकरणत्रयं सुघटमीषदुन्मीलितं,
मया शिवमुखोद्गतं सुमतिसिद्धये साम्प्रतम्।

विचार्यं गतमत्सरैर्बुधजनैर्गुणग्राहिभिः,
सुसेव्यमिह तेष्वलं भवतु सिद्धिमोक्षप्रदम् ॥
—भट्टभास्कराचार्य-शिवसूत्रवार्तिक

श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा ।
सिद्धादेशात्प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि ॥
सरहस्यान्यतः सोऽपि प्रादाद् भट्टाय सूरये ।
श्रीकल्लटाय सोऽप्येवं चतुःखण्डानि तान्यथ ॥
व्याकरोत् त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः ।
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिमम् ॥
एवं रहस्यमप्येष मातुलेयाय चावदत् ।
श्रीमत्प्रद्युम्नभट्टाय सोऽपि स्वतनयाय च ॥
श्रीमत्प्रज्ञार्जुनाख्याय प्रादात्सोप्येवमावदत् ।
श्रीमहादेवभट्टाय स्वशिष्यायाप्यसौ पुनः ॥
श्रीमच्छ्रीकण्ठभट्टाय प्रददौ स्वसुताय च ।
तस्मात्प्राप्य करोम्येष सूत्रवार्तिकमादरात् ॥
दैवाकरिर्भास्करोऽहं अन्तेवासिगणेरितः । ३–८ ।
—शिवसू० वा०

(२) साहित्य—काश्मीरिक शिवाद्वयवाद के मूल उपजीव्य ग्रन्थ स्वच्छन्द, मालिनी, विज्ञानभैरव आदि तन्त्र हैं, जिनकी व्याख्या, इसके पूर्व द्वैत परम्परा के अनुसार की जाती रही है। ऐसी मान्यता है कि इन तन्त्रों और आगमों के कर्ता शिव जी हैं। इन्हीं ग्रन्थों को आधार बनाकर स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के नाम से त्रिकमत के सिद्धान्त और तर्क की स्थापना की गई।

स्वच्छन्द, नेत्र और विज्ञानभैरवतन्त्र पर क्षेमराज की उद्योत नाम की टीकायें उपलब्ध हैं, जो भेदवादी व्याख्याओं का निराकरण करके अद्वैतवाद[1] की स्थापना करती हैं। शिवसूत्रों पर निम्नाङ्कित टीकायें प्राप्त हैं—

१. शिवसूत्रवृत्ति—अज्ञातकर्तृक।
२. शिवसूत्रवार्तिक—भट्टभास्कर।
३. शिवसूत्रविमर्शिनी—राजानक क्षेमराज।

---

१. 'रुद्रयामल' के ३०–३५ श्लोकों को लेकर आचार्य अभिनव गुप्त ने 'परात्रिंशिकाविवरण' नामक अपूर्व ग्रन्थ लिखा है जिसमें 'अहं' इस पद द्वारा प्रत्याहृत समस्त वर्णों का विकास विशद रूप में दिखाया गया है।

स्पन्दशास्त्र का मूलग्रन्थ है स्पन्दसूत्र अथवा स्पन्दकारिका जिसका कर्तृत्व आचार्य वसुगुप्त को दिया जाता है। इसमें ५२ कारिकायें हैं जो ३ निष्यन्दों में विभक्त हैं। इस ग्रन्थ पर कल्लट भट्ट की वृत्ति मिलती है। वृत्ति और कारिका को मिलाकर इसे स्पन्दसर्वस्व के नाम से भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त—

१. विवृति—रामकण्ठ कृत

२. प्रदीपिका—[1]उत्पलवैष्णव कृत

३. स्पन्दसन्दोह—क्षेमराजकृत ( केवल प्रथम कारिका पर निबन्ध )

४. स्पन्दनिर्णय—ये टीकायें मिलती हैं जिनमें स्पन्दनिर्णय आंशिक रूप में ही उपलब्ध है।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र पर, जैसा कि पहले कहा गया है, शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ सोमानन्द द्वारा लिखा गया था, जिसमें शब्दब्रह्माद्वयवाद का विशेष रूप से खण्डन करके शिवाद्वैतवाद की स्थापना की गई है। सोमानन्द ने इस पर स्वतः वृत्ति लिखी थी जो प्राप्त नहीं है। आचार्य उत्पल की वृत्ति अवश्य चौथे आह्निक के ७४ वें श्लोक तक उपलब्ध है। सोमानन्द के विस्तृत विज्ञान का संग्राहक ग्रन्थ 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' नाम से आचार्य उत्पल के द्वारा लिखा गया था। इसमें १९० श्लोकों को चार अधिकारों एवं ग्यारह आह्निकों में विभक्त किया गया है।

इस ग्रन्थ पर निम्नाङ्कित टीकायें उपलब्ध हैं—

१. उत्पलाचार्य की स्वकीय वृत्ति ( आंशिकरूप में )

२. विमर्शिनी—लघ्वीवृत्ति—अभिनवगुप्त

३. विवृतिविमर्शिनी—वृहतीवृत्ति— ,,

इस प्रसङ्ग में आचार्य अभिनवगुप्त के महाकाय तन्त्रालोक[2] को भूला नहीं जा सकता जिसमें शिवाद्वयवादी समस्त तान्त्रिक परम्परा का व्यापक उल्लेख किया गया है। टीकाओं और मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त इन दार्शनिकों ने अनेक स्तुतियां भी लिखी हैं जिनमें शैव दर्शन का भक्तिरस से पूर्ण स्वरूप देखने को मिलता है। आचार्य उत्पल की 'शिवस्तोत्रावली' इन स्तुतियों में अधिक विख्यात है। इसके अतिरिक्त पचासों प्राप्त और अप्राप्त ग्रन्थ जिनके उद्धरण टीकाओं में मिलते हैं, इस साहित्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों पर प्रकाश डालते हुए प्रतीत होते हैं।

---

१. उदयाकर के पुत्र प्रसिद्ध उत्पलाचार्य से ये भिन्न हैं।

२. इस ग्रन्थ पर आचार्य जयरथ ( १३ वीं शताब्दी विक्रमीय ) की विवेक नामक विस्तृत टीका प्रकाशित है।

( ३ ) दर्शन—

निरुपादान संसारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रंनमस्तस्मै कलाश्लाध्याय शूलिने ।।—स्तवचिन्तामणि

विश्वोत्तीर्ण, विश्वमय, चिदानन्दघन परमशिव[1] प्रत्यभिज्ञादर्शन के चरम प्रतिपाद्य तत्त्व हैं। चिति, आत्मा, शिव, महेश्वर ये एक ही तत्त्व के नाम हैं। समस्त पदार्थों में विद्यमान आत्मा ही शिव है। परमार्थतः वाह्य जगत् में ग्राह्य और ग्राहकादि भेद नहीं हैं; विश्वगत अनन्त वैचित्र्य के रूप में वही एक तत्त्व स्फुरित हो रहा है।

शिव की अनन्त शक्तियाँ हैं; किन्तु उनमें पाँच—प्रकाशरूप[2] चित्शक्ति, स्वातन्त्र्यरूप आनन्द शक्ति, उपभोगात्मक चमत्काररूप इच्छा शक्ति, आमर्शात्मक ( वेद्य के प्रति उन्मुखता स्वरूप ) ज्ञान शक्ति तथा सर्वाकारयोगित्वरूप क्रिया-शक्ति मुख्य है। चिदानन्दघन[3] परमशिव, विश्वक्रीडा के प्रारम्भ में, इच्छा,

---

१.(क) श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमयप्रकाशैक-घनस्य······। अखिलं अभेदेनैव स्फुरति।—प्रत्यभिज्ञाहृदय

(ख) आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।।

—शिवदृष्टि, आ० १ श्लो० २

(ग) इह हि सर्वत्र अप्रतिहतशक्तिः परमेश्वर एव तथा बुभूषुः तथा भवति, न तु अन्यः कश्चित् परमार्थतः अस्ति इति।।

—प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी १,१,७.

२. 'प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः' ( तन्त्रसार, आ० १ ) 'प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्शः अहमिति।' ( प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ३. १. ४. ) 'स्वातन्त्र्यं आनन्द-शक्तिः' ( त० सा० ) 'तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। ( वही ) 'आमर्शात्मकता ज्ञान-शक्तिः' आमर्शश्च ईषत्तया वेद्योन्मुखता। ( वही ) सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। ( वही )

३. यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः।। ३७।।
क्रीडन् करोति पादातधर्मांस्तद्धर्मधर्मतः।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा।। ३८।।
इत्थं शिवो बोधमयः स एव परनिर्वृतिः।
सैव चोन्मुखतां याति सेच्छाज्ञानक्रियात्मताम्।। ३९।।
सैव शाक्तशरीरादिनारकान्तं हि भूतता।
प्रसूयते स्वचिद्रूपप्रमुखं पार्थिवान्तकम्।। ४०।।

ज्ञान और क्रिया इन शक्तियों द्वारा शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीपर्यन्त समस्त सृष्टिचक्र का प्रवर्तन करते हैं। सार्वभौम नृप की, लीलावश पदाति सम्बन्धी चेष्टाओं के समान, वे प्रभु, आनन्द से उच्छलित नाना प्रकार के भूत भेदों में व्याप्त होकर क्रीडा करते हैं। अपने शिवत्व को भूले हुए से वे, पशु आदि प्रमाताओं और नील-सुखादि प्रमेयों का भेद अङ्गीकार करते हैं। इस प्रकार भेद में अभिन्न रूप से वर्तमान शिवरूप सत्यता का बाध, परमार्थतः कभी भी नहीं होता। व्यवहारदशा[1] में स्वरूपविस्मृत, सुखदुःखादि अनेक संवेदनों से समाकुल, समल संकुचितचित्त पशु ( जीव ) को स्वरूपाभिज्ञान की आवश्यकता होती है जिसके बिना वह अपने पूर्व स्वातन्त्र्य या आनन्द से रहित होकर कृपण बना रहता है। इस कार्पण्य को दूर करना प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का प्रयोजन है।

आचार्य उत्पल ने लिखा है—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्माऽपि विश्वेश्वरो,
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, का०

अर्थात् दूती-सम्प्रेषण आदि भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा निकट उपस्थित होने पर भी अज्ञातप्रियतम, साधारण जन के सदृश तन्वी नायिका को जैसे आनन्दप्रद नहीं होता उसी तरह जीव को, परमैश्वर्यशाली स्वात्मा भी, बिना परिचय के आत्मवैभव प्रदर्शित नहीं करता—इसी के लिए प्रत्यभिज्ञा का उपदेश किया गया है।

**हठपाकक्रम या शाम्भवोपाय**—आत्माभिज्ञान के लिए सम्पूर्ण संसार का प्रशम अत्यन्त आवश्यक है। एतदर्थ प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में सर्वोत्कृष्ट उपाय हठपाकक्रम या शाम्भवोपाय माना गया है। यह उपाय पूर्णतया अभेद-

---

पदार्थत्वेन भगवान् सर्वत्रैव तदात्मता।
स्वशिवत्वमिवाजानन् पश्वात्मव्यपदेशतः॥ ४१॥

—शिवदृष्टि, प्रथम० आह्निक।

एवं भेदात्मकं नित्यं शिवतत्त्वमनन्तकम्।
तथा तस्य व्यवस्थानान्नानारूपेऽपि सत्यता॥ ४९॥ वही।

१. किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते॥

—१,२,३ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका।

भावना[1] प्रधान है। यथा—'यह प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयात्मक जगत् परबोधात्मक मुझसे उत्पन्न हुआ है, अनतिरिक्त होने पर भी अतिरिक्त के समान मुझमें स्थित तथा मुझसे सर्वथा अभिन्न है' इस प्रकार का परामर्श ही शाम्भवोपाय है।

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः॥ २८०॥

—तन्त्रालोक, आ० ३

आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे निम्नाङ्कितरूप में और स्पष्ट किया है—

मैं[2] स्वकीय आत्मारूपी चिदाकाश में विश्व को अवभासित कर रहा हूँ अतः मैं[2] ही विश्वात्मक स्रष्टा हूँ। यह सम्पूर्ण षडध्व समूह (वर्ण, पद, मन्त्र-कला, तत्त्व, भुवन) मुझमें ही प्रतिबिम्बित है अतः मैं ही स्थितिकर्ता हूँ। सदा प्रकाशित महाज्ञानात्मक अग्निस्वरूप मुझमें यह संसार विलीन हो रहा है—इस प्रकार अनुसन्धान करते हुए योगी, शान्ति को प्राप्त हो जाता है। अगणित विचित्र लोकों से युक्त संसाररूपी स्वप्न-गृह को दग्ध करनेवाला जाज्वल्यमान हुताशनरूप शिव मैं ही हूँ—ऐसा सतत अभ्यास शाम्भवोपाय है जो योगी को हठात् तुरीयपद या शिवता का लाभ करा देता है।

शाक्त और आणव उपायों में क्रमशः भेदाभेद और भेद पूर्वक स्नान, व्रत,

---

१. स्वात्मन्येव चिदाकाशे विश्वमस्म्यवभासयन्।
स्रष्टा विश्वात्मक इति प्रथया भैरवात्मता॥

२. अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं, शाक्तमुच्यते-भेदाभेदात्मकोपायं, भेदोपायं तदाणवम्॥ २३०॥ तन्त्रालो० प्र० आ०

षडध्वजातं निखिलं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
स्थितिकर्ताहमस्मीति स्फुटेयं विश्वरूपता॥
सदोदितमहाबोधज्वालाजटिलतात्मनि।
विश्वं द्रवति मय्येतदिति पश्यन् प्रशाम्यति॥

अनन्तचित्रसद्गर्भसंसारस्वप्नसद्मनः।
प्लोषकः शिव एवाहमित्युल्लासी हुताशनः॥
जगत् सर्वं मत्तः प्रभवति विभेदेन बहुधा,
तथाप्येतद्रूढं मयि विगलिते त्वत्र न परः।
तदित्थं यः सृष्टिस्थितिविलयमेकीकृतवशा-
दनंशं पश्येत्स स्फुरति हि तुरीयं पदमितः॥ २८१–२८७॥

—तन्त्रालोक, आ० ३।

देह शुद्धि, धारणा, मन्त्रयोजना आदि विधान किए जाते हैं, किन्तु शाम्भव में पूर्ण अभेद भावना करनी होती है। ये वाह्य क्रिया-कलाप वहाँ नहीं चलते। इसमें विश्वास अत्यन्त तीव्र शक्तिपात के बिना सम्भव नहीं होता।

शान्ति या मधुरपाक क्रम में मन्त्र और मुद्रावीर्य के अनुसन्धान स्वरूप शाक्तोपाय का ग्रहण किया जाता है। यह उपाय स्वरूप विमर्शात्मक है; यहाँ सम्पूर्ण वाह्य और आन्तर विकल्पों को चिदग्नि में हवनकरना होता है। यह उपाय भेदाभेद प्रधान है।

सर्वभावमयभावमण्डलं विश्वशक्तिमयशक्तिर्बर्हिषि।
जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो विश्वमेधमययज्ञयाजिनः ॥

—शिवस्तोत्रावली।

आणवोपाय भेद प्रधान है। इसमें प्राणायामादि नाना साधनों का आश्रय लेना पड़ता है।

तन्त्रालोक के प्रथम आह्निक में आचार्य अभिनवगुप्त ने मुक्ति के चार मार्गों का उल्लेख किया है :—

१. अनुपाय २. शाम्भवोपाय ३. शाक्तोपाय एवं ४. आणवोपाय। वस्तुतः जिसे यहाँ अनुपाय कहा गया है वह शाम्भवोपाय का ही चरम रूप है— 'साक्षादुपायेन इति शाम्भवेन। तदेव हि अव्यवहितं परज्ञानावाप्तौ निमित्तं, स एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते'। (तन्त्रालोक प्र० आ० पृ० १८२)

**अनुपाय**—अनुपाय पूर्णतया अनुग्रह मार्ग पर आधारित है; गुरु अर्थात् अनुग्रह शक्ति के सकृत् उपदेश द्वारा स्वप्रकाश का उन्मीलन हो जाता है बारम्बार भावनात्मक अनुसन्धान नहीं करना पड़ता। आणवादि उपायों में उपदेश की असकृत् भावना करनी होती है तभी उपेय-लाभ होता है। जयरथ ने अनुपाय का 'अनुदरा कन्या' के समान अल्पोपाय भी अर्थ किया है। सकृद्देशना ही अल्पोपाय है। शाम्भवोपाय में तीव्र शक्तिपात की आवश्यकता होती है, यहां तीव्रतीव्र शक्तिपात के बिना निरुपायसमावेश लाभ सम्भव नहीं। जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक जल उठता है वही प्रक्रिया अनुपाय में घटित होती है। सिद्ध अथवा योगिनी के दर्शन मात्र से संवित् का संक्रमण किसी भाग्यशाली व्यक्ति के जीवन में देखा जाता है।

इस अनुपाय को आनन्दोपाय की भी संज्ञा दी गई है। [1]'शाम्भव मार्ग को

---

१. भूयो भूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात्।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः ॥ १४८ ॥—प्र० आ०
यत्तु तत्कल्पनाक्लृप्तबहिर्भूतार्थसाधनम्।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदो नात्रापवर्गगः ॥ १४९ ॥

इच्छोपाय, शाक्त समावेश को ज्ञानोपाय एवं आणवोपाय को क्रियोपाय भी कहा जाता है। जयरथ ने त० प्र० आ० पृ० २५५ पर किसी तन्त्र का उद्धरण देते हुए कहा है—

विभुशक्त्यणुसम्बन्धात् समावेशस्त्रिधा मतः।
इच्छा-ज्ञान-क्रिया योगादुत्तरोत्तरसम्भृतः॥

इन तीनों उपायों से उत्कृष्ट, परम ज्ञानस्वरूप अनुत्तर ज्ञान है जो आनन्द शक्ति मात्र में विश्रान्त रहता है—

ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम्।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते॥ २४२॥

**शाक्तोपाय**—तन्त्रालोक में कहा गया है कि 'भेदाभेदौ हि शक्तिता;' ( २२० श्लो० प्र० आ० ) शाक्तोपाय में वाह्य उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान की कल्पना न होने से अभेदावस्था है और चित्त से इनका चिन्तन होने के कारण विकल्पात्मकता रूप भेद भी सम्भव है अतः यहाँ उभयत्व स्वीकार किया जाता है। यही शाक्त समावेश या उपाय है। यथा—

उच्चार रहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयत्।
यः समावेशमाप्नोति शाक्तः सोत्राभिधीयते॥ १६९॥—प्र० आ०

इसको ज्ञानोपाय इसलिए, कहा जाता है—

जब योगी 'आत्मैवेदं सर्वं' इस प्रकार से चिन्तन करता है तो इसमें आत्मा और अनात्मा रूप दो विकल्पांश विद्यमान रहते हैं और क्रमशः 'यह आत्मा ही अनात्मा रूप से प्रकाशित हो रहा है' ऐसा बारम्बार अभ्यास करने पर अभेद परामर्श की प्राप्ति होती है, पूर्वोक्त विकल्प निर्विकल्पता के रूप में परिणत हो जाता है और यही ज्ञान है।

**आणवोपाय**—'अणुषु भेदिपूपायेषु भवः आणवः'। उच्चार या उच्चारण ( प्राणायाम मन्त्र जप ), जो प्राणापानादिपञ्चक एवं मुख्य प्राण स्वरूप है, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान की कल्पनाओं—भेदों से युक्त समावेश ( उपाय ) आणवोपाय कहा जाता है। पूर्वोक्त भेदप्रधामयी कल्पनाओं से कल्पित, उच्चारादि बहिर्भूत अर्थ का साधन होने से इसे क्रियोपाय भी कहा जाता है। यह क्रियोपाय ज्ञानोपाय का हेतु है और ज्ञानोपाय, इच्छोपाय का तथा इच्छो-

---

तत्राद्ये स्वपरामर्शे निर्विकल्पैकधामनि।
यत्स्फुरेत् प्रकटं साक्षात् तदिच्छाख्यं प्रकीर्तितम्॥ १४६॥
एवं परेच्छाशक्त्यंशसदुपायमिमं विदुः।
शाम्भवाख्यं समावेशं सुमत्यन्तेनिवासिनः॥ २१३॥

पाय या शाम्भवोपाय अनुपाय का कारण है इस प्रकार उपाय त्रैविध्य या चातुर्विध्य होने पर भी जिस अपवर्ग या स्वरूप प्रथात्मक मोक्ष का लाभ होता है उसमें भेद नहीं होता।

उच्चारकरण[1] ध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ।। १७० ।। प्र० आ०

**शाम्भवोपाय**—शाम्भव समावेश में चिन्तन का भी त्याग कर दिया जाता है, विकल्प की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। श्रेष्ठ गुरु द्वारा प्रदत्त, ज्ञेय—पारमार्थिक चिदात्मा रूप अवश्य ज्ञातव्य बोध से विकल्प विगलित हो जाता है। और तब भावनादि की अपेक्षा न करने वाली अविकल्प रूप संवित् शिव के साथ तादात्म्य लाभ करती है यही शाम्भव समावेश है—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः ।। १६८ । प्र० आ०
अकिञ्चिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता।
तथा च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते ।। १७१ ।। वही
तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी।
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शाम्भवः ।। १७८ ।।

---

१. (क) उच्चार पहले दो प्रकार का है १ प्राणात्मक (पञ्चप्राणस्वरूप) 'उच्चारणं च प्राणाद्या व्यानान्ताः पञ्चवृत्तयः। आद्या तु प्राणनाभिख्या-परोच्चारात्मिका भवेत् ।।' १८ (तं०, आ० ४) २ चिदात्मक। चिदात्मा भी (१) चित्प्राधान्य और (२) विमर्शप्राधान्य से दो प्रकार का होता है।
(ख) करण सात प्रकार का है—१. ग्राह्य २. ग्राहक ३. संवित्ति ४. संनिवेश ५. व्याप्ति ६. आक्षेप ७. त्याग।
ग्राह्यग्राहकचिद्व्याप्तित्यागाक्षेपनिवेशनैः।
करणं सप्तधा प्राहुरभ्यासं बोधपूर्वकम् ।। १२९ । तन्त्रा०, आ ५।
(ग) प्राणात्मक उच्चार में स्वयं स्फुरित अनाहत नाद, वर्णोत्पत्ति का निमित्त होने से वर्ण कहलाता है। सृष्टि और संहार बीज इसका मुख्य शरीर है। 'उक्तो य एष उच्चारस्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः। अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते ।।' १३१–३२। तं० आ० ५।
(घ) स्थान तीन प्रकार है—१. प्राण २. देह और ३. बाह्य। प्राण के पांच, देह के दो, और बाह्य के ग्यारह भेद हैं—स्थानभेदस्त्रिधा प्रोक्तः प्राणे देहे बहिस्तथा। प्राणश्च पञ्चधा देहे द्विधा बाह्यान्तरत्वतः। मण्डलं स्थण्डिलं पात्रमक्षसूत्रं सपुस्तकम्। लिङ्गं तूरं पटः पुस्तं प्रतिमा मूर्तिरेव च। इत्येकादशधा—तन्त्रा० आ० ६ श्लोक० २–३

समावेश, केवल तीन ही प्रकार का नहीं है, श्रीपूर्व शास्त्र में इसके पचास भेदों का वर्णन किया गया है :—

रुद्रशक्तिसमावेशः पञ्चधा ननु चर्च्यते ।
भूततत्त्वात्ममन्त्रेशशक्तिभेदाद्वरानने ॥
पञ्चधा भूतसंज्ञोऽत्र त्रिंशद्धा तु तथापरः ।
आत्माख्यस्त्रिविधः प्रोक्तो दशधामन्त्रसंज्ञकः ।
द्विविधः शक्तिसंज्ञोऽपि ज्ञातव्यः परमार्थतः ।
पञ्चाशद्भेदभिन्नोऽयं समावेशः प्रकीर्तितः ।

—श्लो० १८६ की व्याख्या में उद्धृत

भूत, तत्त्व, आत्मा, मन्त्र और शक्ति भेद से पांच प्रकार का रुद्र [1]शक्ति-समावेश चर्चित हुआ है। इन पाचों के क्रमशः भेद :—

भूत—पांच
तत्त्व—तीस
आत्मा—तीन
मन्त्र—दश
शक्ति—दो

जीवन्मुक्ति—उपर्युक्त शान्त और हठात्मक साधनों द्वारा आणवादि पाशों को काट कर पशु, अपनी पति दशा को पहचान लेता है। यह स्वात्मबोध ही जीवन्मुक्ति है इसे चिदानन्द लाभ भी कहा जाता है। क्षेमराज ने कहा है कि मध्यविकास से चिदानन्द का लाभ होता है। विश्वात्मसात्कारस्वरूप समावेशात्मक चिदानन्द के उपलब्ध होने पर देह, प्राण, नील, सुख आदि के आभासित रहने पर भी समावेश या समाधि संस्कार के बल से चित्तत्त्व के साथ अविचल एकत्व सम्पन्न होता है। प्राणधारण करते हुए भी योगी इस दशा में मुक्त रहता है क्योंकि मध्य अर्थात् ब्रह्मनाड़ी अथवा परासंवित् के विकसित हो जाने पर स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान के साथ ही अशेष पाशराशि कट जाती है। स्पन्द कारिका में कहा है ;—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ ३।१२ नि० ।

यह जगत् मेरा ही रूप है—ऐसा ज्ञान जिस योगी को हो जाता है वह सम्पूर्ण संसार को खेल के समान देखता हुआ नित्य मुक्त होने के कारण जीवन्मुक्त ही है। स्वरूपप्रथा ही मोक्ष है और स्वरूप का अज्ञान बन्ध। जयरथ ने लिखा

---

१. यावान् षट्त्रिंशकः सोऽयं यदन्यदपि किञ्चन ।
एतावती महादेवी रुद्रशक्तिरनर्गला ॥ १९५ ॥—तन्त्रा० प्र० अ०

है कि वस्तुतः बन्ध और मोक्ष कुछ भी नहीं है आत्मा सदा और सर्वत्र आत्म रूप से प्रथित हो रहा है—

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
वन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किञ्चित्त्यज मा गृहाण विरम स्वस्थो यथावस्थितः ॥
—तं० प्र० आ० ३३१ श्लो० टी०

**उन्मीलन और निमीलन समाधि**—मध्यविकास द्वारा चिदानन्दलाभ ही समावेश, समापत्ति अथवा समाधि है। अन्तर्मुखता या व्युत्थान दोनों दशाओं में जब चिदैक्य का विमर्श होता है तब इसे नित्योदितसमाधि की संज्ञा प्राप्त होती है। समावेश प्राप्त योगी व्युत्थानदशा में समाधिरस के संस्कार से मत्त के सदृश आनन्दमग्न होकर जब समग्र विश्व-वैचित्र्य को शरद कालीन मेघ-खण्ड के समान चिद्गगन में विलीन होते हुए देखता है तो इसी को उन्मीलन समाधि कहते हैं। और जब वह अन्तर्मुखता का अवलम्बन करके चिदैक्य का अनुभव करता है तब इस दशा को निमीलन समाधि कहा जाता है। दोनों का बोध नित्योदितसमाधि शब्द द्वारा होता है।

**क्रममुद्रा का स्वरूप और उपयोगिता**—नित्योदित समावेश का नामान्तर क्रममुद्रा है। सृष्टि, स्थिति, संहार तथा संविच्चक्रात्मक क्रम को मुद्रित स्वाधिष्ठित या आत्मसात् करने वाली जो तुरीय चिति शक्ति है उसी को क्रममुद्रा कहते हैं। पूर्णाहन्तास्वरूप इस क्रममुद्रा द्वारा, विषयों में व्यापृत भी साधक परशक्ति के विकास का साक्षात्कार करता रहता है। वहाँ, सर्वप्रथम समस्त बाह्यविषय-सामग्री के ग्रस्त हो जाने पर, अन्तः या परा-चिति-भूमि में प्रवेश होता है। पश्चात्, अभ्यन्तर से—चितिशक्ति के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने पर समावेश के सामर्थ्य से—इदन्ता के रूप में निर्भासित बाह्य विषय ग्राम में प्रवेश या घनीभूत चिद्रस का विस्ताररूप समावेश घटित होता है। यह बाह्य और आभ्यन्तररूप सम्मिलित समावेश ही मुद्राक्रम है। हर्ष के वितरण करने, परमानन्दस्वरूप होने, पाश के काटने एवं विश्व को अन्तस्तुरीय सत्ता में मुद्रित करने के कारण इसे मुद्रा कहते हैं। सृष्टि आदि क्रमों के आभासक होने तथा क्रमाभासस्वरूप होने के कारण उसे क्रम कहा जाता है। इसी को लक्ष्य करके राजानक क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय में क्रमसूत्र सम्बन्धी सन्दर्भ को उद्धृत किया है :—

'क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः। तत्रादौ

बाह्यात् अन्तः प्रवेशः, आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशाज्जायते; इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः ।'

**परसंवित् में पूर्णत्व एवं कृशत्व का विचार**—चिदाह्लादैकघन प्रकाशानन्दसार भगवती पराशक्ति या परमशिव ही पूर्ण है। समस्त आकाङ्क्षाओं से शून्यता और आनन्दप्रसर की निर्भरता, परिपूर्णता कही जाती है। यह परसंवित् में सर्वदा वर्तमान रहती है। राजानक क्षेमराज ने इस पराभट्टारिका को सदा पूर्ण, कृश, उभयात्मक तथा अनुभयरूप बताया है। बहिर्मुखरूप, जब जब स्वरूप में विश्रान्त होता है तब तब वाह्य वस्तुओं का उपसंहार होता है, ये वस्तुयें अन्तः प्रशान्त पद में स्थिति लाभ करती हैं तथा भावी संवित्सन्तान या सृष्टि का सूत्र भी यहीं काता जाता है। इस प्रकार सृष्टि, स्थिति और संहार की सम्मेलनात्मक शक्ति को तुरीया संविद्भट्टारिका कहते हैं। यह जब सृष्ट्यादि भेदों का उद्वमन करती है तब कृश और जब उपसंहार करती है तब पूर्ण कही जाती है; इस प्रकार यह पूर्ण भी है और कृश भी तथा दोनों धर्मों के सापेक्षतया, उपचरित होने से वह अनुभय रूप भी है।

**प्रत्यभिज्ञाशास्त्र सम्मत कार्यकारणभाव**—यहाँ दो प्रकार का कार्य-कारणभाव समझना चाहिए—प्रथम पारमार्थिक और द्वितीय कल्पित। सामान्यतया परसंवित् को कारण और अनन्त विश्व-वैचित्र्य को उसका कार्य कहा जाता है। चित् शक्ति में देश, काल और आकारकृत भेद नहीं होते; वह एक पूर्णाहंविमर्शात्मक तत्त्व है। दर्पण में नगर के समान स्वरूपात्मक भित्ति में, अभिन्न होते हुए भी भिन्न के समान अनन्त जगज्जाल को वह उन्मीलित करती है। अन्तः स्थित पदार्थों का प्रकटीकरण ही उन्मीलन है। कार्यात्मक समस्त विश्व, मूल में प्रकाश के साथ एकात्मरूप से स्थित रहता है। अतः यह जगत् चित् से भिन्न कुछ भी नहीं है। भगवती चिति जो स्वच्छ एवं स्वतन्त्र है, भिन्न भिन्न अनन्त जगत् रूपों में स्फुरित होती है--यहाँ इतना ही पारमार्थिक कार्य-कारणभाव है। कल्पित[1] कार्य-कारणभाव की दृष्टि निम्नाङ्कित है :—

[2]चिन्मात्रस्वभाव परमशिव पूर्ण एवं निराशंस रूप में सृष्टि के आदि में

---

१. 'कार्यकारणभावो यः शिवेच्छापरिकल्पितः'---तन्त्रा० आ० ९ श्लो० ७

२. श्रीपूर्वशास्त्रे कथितां वच्मः कारणकल्पनाम् ।
शिवः स्वतन्त्रदृग्रूपः पञ्चशक्तिसुनिर्भरः ॥ ४९ ॥
स्वातन्त्र्यभासितभिदा पञ्चधा प्रविभज्यते ।
चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः ॥ ५० ॥
शिवशक्तिसदेशानविद्याख्यं तत्त्वपञ्चकम् ।—तन्त्रा० आ० ९ ।

विद्यमान रहते हैं। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया इन पञ्च शक्तियों से भरित होने के कारण वे पूर्ण कहे जाते हैं। अन्य की आकाङ्क्षा या अपेक्षा न होने से स्वतन्त्र, चिन्मात्ररूपता के कारण निराशंस रूप में उन्हें अभिहित किया जाता है। अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से वे, पूर्वोक्त शक्तिपञ्चक की, शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या रूप तत्त्वदशा का आभासन करते हैं, ''यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने' (तं० ९ आ०श्लो० २) इस उक्ति के अनुसार घट-शराव आदि अपने कार्य में, सत्त्वादि गुणरूप धर्म समूह में, स्वसदृश गुण वाले सङ्कुचित प्रमातृवर्ग में अथवा प्रकाश ही एकमात्र जिसमें परमार्थ है उन सभी में, जो पृथिवीत्व आदि अनुगामिता रूप से विद्यमान रहते हैं; उनको क्रमशः अपने अपने कार्य में सन्तान या व्याप्ति के कारण पृथ्वी, प्रधान, पुरुष, शिव आदि तत्त्व कहा जाता है। इस दृष्टि से पूर्वोक्त शिवादि पञ्चक को तत्त्व कहते हैं; यह शुद्ध अध्वा है। साक्षात् शिव की इच्छा ही इस शुद्धाध्वा की कर्त्री है।

तदेवं पञ्चकमिदं शुद्धोऽध्वा परिभाष्यते।
तत्र साक्षाच्छिवेच्छैव कर्त्र्याभासितभेदिका ॥—तं० ६०, आ० ९

उपर्युक्त तत्त्वों में रहने वाले भिन्न भिन्न गण हैं। शिव तत्त्व में शाम्भव, शक्तितत्त्व में शक्तिज अनाश्रित आदिकों का गण, सदाशिवतत्त्व में मन्त्रमहेश्वर, ईश्वर में मन्त्रेश्वर तथा शुद्धविद्या तत्त्व में मन्त्रों का गण रहता है। मन्त्रमहेश्वरों में प्रथम अघोरेश अथवा अनन्त, चिद्गण या सङ्कुचित आत्मवर्ग की भोगसिद्धि के लिए माया से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों या अशुद्ध अध्वा की रचना करते हैं।

'शुद्धोऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः।'

इसमें आणव, मायीय और कार्ममल साहाय्य करते हैं। मायीय मल का कारण कार्ममल है और कार्म का आणव। मल ही संसाररूपी अङ्कुर का कारण है। इस शास्त्र में इसकी विविध संज्ञायें हैं :—

मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्या लोलिकाप्रथा।
भवदोषोऽनुप्लवश्च ग्लानिः शोषो विमूढता ॥
अहंममात्मतातङ्को मायाशक्तिरथावृतिः।
दोषबीजं पशुत्वं च संसाराङ्कुरकारणम् ॥

---

१. (क) स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावतः ॥ ४ ॥
तत्तत्वं क्रमशः पृथ्वी-प्रधान-पुं-शिवादयः ॥ ५ ॥—वही

(ख) 'अनेकत्र एकरूपानुगमस्तत्त्वम्'—जयरथ।

संकुचित ज्ञान का नाम मल है। परमेश्वर, पूर्णज्ञान एवं क्रियात्मक अपने स्वरूप को स्वेच्छा से आच्छादित करके संकुचितात्मता को प्रकट करते हैं। इस प्रच्छन्न ज्ञानात्मरूपता को मल कहते हैं। यह, पूर्णरूप की अख्याति—सङ्कोच या अज्ञान मात्र है। मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्।

शुद्धविद्या तत्त्व से नीचे और माया तत्त्व के ऊपर विज्ञानकेवली नामक प्रमातृगण विद्यमान रहते हैं। अज्ञान नामक आणवरूप मूलमल से युक्त होने के कारण ये शुद्धाध्वा में प्रवेश नहीं कर पाते; तथा कार्ममल के अभाव होने से इनका अशुद्ध अध्वा में गमन सम्भव नहीं होता। 'मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः'। 'विज्ञानं बोधात्मकं रूपं केवलं स्वातन्त्र्यरहितमस्य इति विज्ञानकेवली।' शुद्ध बोधस्वभाव होने पर भी स्वातन्त्र्य हानि के कारण ये विज्ञानकेवली कहे जाते हैं।

इसके अनन्तर माया तत्त्व का स्थान है। यह, एक व्यापक, सूक्ष्म, जड़ तथा कला से लेकर क्षिति पर्यन्त समग्र विश्ववैचित्र्य का मूल कारण है। इसके दो रूप हैं एक तत्त्वरूप, जिसका वर्णन किया गया है। दूसरा रूप परा निशा या महामाया के नाम से कहा जाता है। निखिल जगत् का उल्लासन ही जिनकी क्रीडा है ऐसे परमेश्वर के भेदावभासनरूप स्वातन्त्र्य को, अपूर्णता के विकास द्वारा नष्ट करने वाली शक्ति महामाया है। यह अव्यतिरेकिणी या अविभक्त रूप से शिव में रहने वाली भेदावभासात्मक उल्लासमयी इच्छा मात्र है।

'अत एवाध्वनि प्रोक्ता पूर्वं माया द्विधा स्थिता। तं० आलोक ९ आ०।

माया से किञ्चित्कर्तृत्वात्मक कला का जन्म होता है। कला के कार्य हैं—विद्या, राग, नियति और काल। कला से समायुक्त पुरुष, कर्ता बनता है। पुरुष और कला में प्रयोज्य-प्रयोजक भाव है। किञ्चिज्ज्ञत्वरूप विद्या आदि, पुरुष के भोग में करण का कार्य करते हैं। राग, पुरुष की, अशुचि भोगों में भी आसक्ति उत्पन्न करता है। काल, तुट्यादि कालमानों द्वारा कर्तृत्व को परिच्छिन्न करता है। 'इस कारण से यही कार्य है—' इस प्रकार का नियम ही नियति है। माया, कला, राग, विद्या, काल और नियति ये पुरुष के छः कञ्चुक हैं। कम्बुक के समान पहले मल अणुओं[1] को आवृत करता है तत्पश्चात् तुष के सदृश उपर्युक्त कञ्चुक। इसके अनन्तर भोग्य रूप प्रकृति,[2] कला से ही उत्पन्न

---

१. प्रकृति से ऊपर तथा नियति से नीचे पुरुष तत्त्व है। षट्कञ्चुकों से आवृत होकर चित्, पशु, अणु या परिमितप्रमाता बनता है।

२. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह में प्रकृति को चित्त कहा गया है :—

'सत्त्वादिसामरस्यस्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृतिः।'

होती है। ये प्रकृतियाँ अनेक तथा प्रति पुरुष में भिन्न होती हैं। कलादिक भी प्रति पुरुष में भिन्न ही होते हैं।

'वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला।' तन्त्रा० ९ आ० 'तच्च भिन्नं प्रतिपुंनियतत्वादनेकमिति यावत्।' कलादीनां च तथात्वेऽपि स्फुटं तदपेक्षया स्थूलमित्यर्थः।—जयरथ

सत्व, रजस् और तमो गुण का साम्यात्मक अक्षुब्ध रूप, प्रधान या प्रकृति है। पुरुष की भोक्तृता सम्पादन के लिए प्रकृतिगत गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है। उससे बुद्धि तत्त्व का उदय होता है। बुद्धि से अहङ्कार और सत्वप्रधान अहङ्कार से मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। राजस अहङ्कार से पञ्च कर्मेन्द्रियां तथा तामस अङ्कार से तन्मात्रपञ्चक का जन्म होता है। तन्मात्राओं से पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में छत्तीस तत्त्वों की कल्पना मिलती है। उत्तीर्ण दशा का बोध कराने के लिए परमशिव नामक सैंतीसवाँ तत्त्व भी इस शास्त्र में कल्पित हुआ है। उससे भी निष्कृष्ट परमवेदक अड़तीसवें तत्त्व की भी चर्चा देखी जाती है। यथाः—

यत्तु सर्वाविभागात्म स्वतन्त्रं बोधसुन्दरम्।
सप्तत्रिंशं तु तत्प्राहुस्तत्त्वं[1] परशिवाभिधम्॥

—तन्त्रालो० ११ आ०, श्लो० २१–२२

---

परशुराम कल्पसूत्र के 'षट्त्रिंशत्तत्त्वानि' इस सूत्र की 'सौभाग्यसुधोदय' नामक टीका में रामेश्वर सूरि ने लिखा है—

'सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यरूपा प्रकृतिः चित्तापरपर्याया त्रयोदशं तत्त्वम्।' शाक्ताद्वैतवादी त्रिपुरारहस्य नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि सुषुप्ति में जो प्रकृति है जाग्रत् में वही चित्त है :—

सुषुप्तौ प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्ते चित्तमुच्यते।
वासनापिण्डसहिता चितिश्चित्तमुदीरितम्॥ ७२॥
अव्यक्तमेतदेवोक्तं वासनापिण्डभावतः।
पुरुषाणां विभेदेन चित्तं बहुविधं भवेत्॥७३॥ अध्याय १४ ज्ञानखण्ड

१. सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर ने 'पञ्चविंश आत्मा भवति' इस श्रुति के अनुरोध से पञ्चभूत (५) पञ्चतन्मात्र (५) पञ्चज्ञानेन्द्रिय (५) पञ्च कर्मेन्द्रिय (५) मन (१) माया, शुद्धविद्या, महेश्वर, सदाशिव (४)— ये २५ तत्त्व एवं तत्त्वातीत शिवशक्ति सम्मेलनात्मक २६वां तत्त्व भी स्वीकार किया है द्रष्टव्य श्लो० ११ की टीका।

× × × ×

एवं विसृष्टिप्रलयाः प्राणे एकत्र निष्ठिताः ।। १७९ ।।
सोऽपि संविदि संविच्च चिन्मात्रे ज्ञेयवर्जिते ।।
चिन्मात्रमेव देवी च सा परा परमेश्वरी ।। १८० ।।
अष्टात्रिंशच्च तत्तत्त्वं हृदयं तत्परात्परम् ।। ( तन्त्रालोक, आ० ६ )

वस्तुतः छत्तीस ही तत्त्व हैं; उत्तीर्ण एवं विश्वमय सर्वथा अविभागात्मक सैंतीसवें तथा अड़तीसवें तत्त्व की कल्पना भावना मात्र के लिए है—

'अष्टात्रिंशत्तमः सोऽपि भावनायोपदिश्यते ।' ११।२७ ।

**शान्तब्रह्मवाद और प्रत्यभिज्ञा सम्मत अद्वैतवाद में भेद**—दर्शनों में अभावब्रह्म, जड़ब्रह्म, चित्रब्रह्म, क्रीडाब्रह्म तथा शान्तब्रह्म सम्बन्धी विचार मिलते हैं। शान्तब्रह्मवाद इनमें सबसे व्यापक तथा विपुल साहित्य सम्पन्न हैं। निर्विशेष, निष्क्रिय तथा निर्गुण ब्रह्म ही शान्त ब्रह्म है। भगवान् शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में इसी का पोषण किया है—माण्डूक्योपनिषद् में 'तदेव शान्तं चतुर्थं मन्यन्ते' इस वाक्य द्वारा उसी ब्रह्म का संकेत किया गया है। किसी प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार भोजराज ने 'दृष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' इस योगसूत्र की वृत्ति में लिखा है—योगदर्शन में दो चित् शक्तियाँ स्वीकृत है—( १ ) नित्योदिता और ( २ ) अभिव्यङ्ग्या। पुरुष, नित्योदिता चित्शक्ति है और उसके सन्निधान से अभिव्यक्त, चैतन्य से युक्त चित्तसत्त्व अभिव्यङ्ग्या चित् शक्ति कही जाती है। यहां चित्तसत्त्व या अभिव्यङ्ग्या चित् शक्ति, अत्यन्त सन्निहित होने के कारण अन्तरङ्ग तथा पुरुष की भोग्या बनती है। शान्तब्रह्मवादी साङ्ख्यगण इसी चित्तसत्व को पुरुष या परमात्मा का अधिष्ठेय तथा कर्मानुरूप सुख-दुःख का भोक्ता मानते हैं। 'अतएव अस्मिन् दर्शने द्वे चिच्छक्ती नित्योदिता अभिव्यङ्ग्या च; नित्योदिता चिच्छक्तिः पुरुषः, तत्सन्निधानादभिव्यक्तं अभिव्यङ्ग्यचैतन्यं सत्त्वमभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिः; तदत्यन्तसन्निहितत्वात् अन्तरङ्गं पुरुषस्य भोग्यतां प्रतिपद्यते। तदेव शान्तब्रह्मवादिभिः सांख्यैः पुरुषस्य परमात्मनोऽधिष्ठेयं कर्मानुरूपं सुखदुःखभोक्तृतया व्यपदिश्यते।

| ईश्वराद्वयवाद | शान्तब्रह्मवाद |
|---|---|
| १. शिव का पञ्चकृत्यकारित्व। | ब्रह्म का निष्क्रियत्व। |
| २. विश्व का सत्यत्व या शिवरूपत्व। | विश्व का मिथ्यात्व। |
| ३. शक्ति का सत्यत्व और चिदात्मकत्व। | मायाशक्ति का मिथ्यात्व और अनिर्वचनीयत्व |
| ४. सकल या जीव दशा में भी पञ्चकृत्य कारित्व। | जीवदशा में भी आत्मा का निष्क्रियत्व, औपचारिक कर्तृत्व या सुखदुःखादिभोक्तृत्व। |

**शिवाद्वयवाद एवं शाक्ताद्वैतवाद का स्वरूप निर्णय**—अद्वैतवादी शैवदर्शन में स्वीकृत छत्तीस तत्त्व, शाक्ताद्वैतवाद में भी संगृहीत हुये हैं। शिव और शक्ति के मुख्यगौणभाव को लेकर दोनों दर्शनों में पारस्परिक भेद देखा जाता है। शाक्ताद्वैतवादीगण शक्ति को सर्वोत्कृष्ट परतत्त्व मानते हैं तथा शिवाद्वयवादी शिव को। शैव लोग, शिव में शक्ति का माहात्म्य तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसकी प्रधानता नहीं। शाक्त लोग, शक्ति की परादशा के अतिरिक्त उससे नीचे एक अन्य शक्ति स्वीकार करते हैं जो पर तत्त्व से किञ्चित् स्थूल मानी जाती है। सिद्ध सोमानन्दपाद तथा उत्पलाचार्य, शाक्तों के द्वारा स्वीकृत शक्ति की परावस्था को भक्तिमात्र जनित स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि स्त्रीलिङ्ग द्वारा निर्दिष्ट चरम तत्त्व शिव ही है :—

अथ शक्तेः परावस्था यैर्भक्त्या परिगीयते।
युक्त्या प्रकाशितो देवस्ततः शक्तिदशा यतः।। १ ।।

—शिवदृष्टि, ३ आ०

यस्या निरुपाधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया।
व्यपदेशः परां तां त्वामम्बां नित्यमुपास्महे।।

—उत्पलाचार्य, शिवदृष्टि, ३ आ० का मंगलाचरण

**षडध्व**—प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अनुसार यह सम्पूर्ण सृष्टि वाच्य और वाचक भेद से आकलित की जाती है। वाचक-शब्द और वाच्य-अर्थ। शब्द के तीन मार्ग हैं—वर्ण, पद और मन्त्र; तथा अर्थ के भी कला, तत्त्व और भुवन ये तीन ही मार्ग हैं। प्रथम त्रिक को कालाध्वा और द्वितीय को देशाध्वा कहा जाता है। शान्त्यतीता, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति इन पांच कलाओं के अन्तर्गत शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों और सदाशिव से लेकर अनन्त तक श्रीपूर्व शास्त्र[1] के मतानुसार ११८ भुवनों का समाहार हो जाता है। इस मत में शान्त्यतीता भुवन रहित है। 'शान्त्यतीता त्वभुवनैव'। ४५२। ( तं० ८ आ० )। मतान्तर में २२४ भुवन हैं। निवृत्ति कला के अन्तर्गत एक सौ आठ—'निवृत्तिस्तु साष्टशतभुवना स्यात्।' प्रतिष्ठा में छप्पन—'षट्पञ्चाशद् भुवना तेन प्रतिष्ठेति कला कथिता'। विद्या में सत्ताइस—इति सप्तविंशतिपुरा विद्या'। शान्ता कला में १७ भुवन हैं—'सप्तदशपुरा शान्ता'। शान्त्यतीता कला में षोडश भुवनों की व्याप्ति है—'इति षोडशभुवनेयं तत्त्वयुगं शान्त्यतीता स्यात्। तं० श्लो० ४०७–४२७। ( आ० ८ ) यह भुवनविभाग स्वच्छन्दतन्त्र[2]

१. श्रीपूर्वशासने पुनरष्टादशाधिकं शतं कथितम्।

—तन्त्रालो०, ४३६ श्लो०, आ० ८

२. स्वच्छन्द० ४।१०३–१९७।

पर आधारित है। मतंगतन्त्र[1] के अनुसार तीन सौ चौसठ भुवन कहे जाते हैं।

एवं त्रिपर्वणि प्रोक्तं भुवनानां शतत्रयम्।
चतुःषष्ट्यधिकं तेषु विचित्रा भुवनेश्वराः॥ —मतंगतन्त्र वृत्ति

वर्णाध्वा प्रमा रूप है; प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता इन तीनों का वह विश्रान्ति धाम है। भगवान् शिव, अपनी चिद्भूमि शुद्धविद्या दशा में, माया से लेकर क्षिति पर्यन्त, वाच्यरूप भिन्न-भिन्न तत्त्वात्मक अर्थों के साथ अभेदरूप से वर्ण समूह की रचना करते हैं। इन वर्णों में सर्वाभिधान सामर्थ्य विद्यमान रहता है। इनकी शक्ति असीम है। वैयाकरण भी कहते हैं—'सर्वः शब्दः सर्वार्थप्रतिपादनशक्तियुक्तः।'

यही नहीं वे वर्णों को ब्रह्मराशि एवं अकृतक मानते हैं :—

वर्णज्ञानं वाग्विषयः यत्र च ब्रह्म वर्तते।
तदर्थमिष्टबुद्धयर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते॥

इसकी व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं—"यह अक्षर-समाम्नाय[2] या वर्णमाला समस्त वाग्व्यवहार में अनुस्यूत है। अभ्युदयरूप दृष्ट फल तथा निश्श्रेयसात्मक अदृष्ट फल ही इस वर्णमाला का प्रयोजन है। ज्ञाता के लिए यह उपर्युक्त रूप में पुष्पित एवं फलित होती है। चन्द्रतारक के समान यह वर्णमाला अव्युच्छिन्न एवं अकृतक है; यह प्रतिपुरुष में व्यवस्थित ब्रह्मराशि है। यह मूल वेद है।" नन्दिकेश्वर द्वारा रचित वर्णमाला का ब्रह्मपरक व्याख्यान तो प्रसिद्ध ही है।

वर्ण दो प्रकार के होते हैं १. अमायीय और २. मायीय। अमायीय वर्णों से मायीय वर्ण उत्पन्न होते हैं। इन मायीय वर्णों में अमायीय वर्ण वीर्य के रूप में विद्यमान रहते हैं। अमायीय वर्ण अकृत्रिम एवं संकोच रहित होने से अनन्त कहे जाते हैं। मायीय वर्णों में अमायीय वर्णात्मक वाचक शक्ति वैसे ही विद्यमान रहती है जैसे अग्नि में उष्णता—

---

१. ये भुवनकला से लेकर क्षिति पर्यन्त भूत, भाव और तत्त्व नामक तीन पर्वों के अन्तर्गत विद्यमान हैं।

२. सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः, पुष्पितः फलितश्च चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितः वेदितव्यो ब्रह्मराशिः।—महाभाष्य।

एतदुक्तं भवति यथैवेदमव्युच्छिन्नं चन्द्रतारकादि एवमस्य वाग्व्यवहारस्य न कश्चित्कर्तास्त्येवमेवेदं पारम्पर्येण स्मर्यमाणं स्मर्यमाणं यथैव संहृतक्रमो ब्रह्मराशिरिति प्रतिपुरुषं व्यवस्थितः एवमयं प्रत्याहारः शक्यं वक्तुम्। विज्ञानब्रह्मवदुपसंहृतो ( सम्भृतो ) ब्रह्मणा।—भर्तृहरि, महाभाष्यदीपिका।

'शब्दे वाचकशक्तिश्च नित्यैवाग्नाविवोष्णता'।
'तेनानन्तो ह्यमायीयो यो वर्णग्राम ईदृशः।
संविद्विमर्शसचिवः सदैव स हि जृम्भते॥ ७१॥
यत एव च मायीया वर्णाः सूर्ति वितेनिरे।
ये च मायीयवर्णेषु वीर्यत्वेन निरूपिताः॥ ७२॥
संकेतनिरपेक्षास्ते प्रमेति परिगृह्यताम्।

—तन्त्रा० ११ आ०

पुरुषनिष्ठ इन वर्णों में जैसे जैसे अकृत्रिमरूपता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उनमें चमत्कार का तारतम्य भी देखा जाता है। किसी में कवित्व-शक्ति, किसी में वक्तृत्व-सामर्थ्य तथा किसी में शास्त्र रचना रूप प्रतिभा-भेद सम्भव होता है। इतना ही नहीं वाक् सिद्धि और सर्वज्ञत्वादि सिद्धि में वर्ण ही निमित्त हैं।

यथा यथा चाकृतकं तद्रूपमतिरिच्यते॥ ७६॥
तथा तथा चमत्कारतारतम्यं विभाव्यते।
आद्यामायीयवर्णान्तर्निमग्ने चोत्तरोत्तरे॥ ७७॥
सङ्केते पूर्वपूर्वांशमज्जने प्रतिभाभिदः। —तन्त्रा० आ० ११

( १ ) **निवृत्ति**[1] **कला**—के अन्तर्गत क्षिति रूप वाच्य के लिए 'क्ष' रूप वर्ण, पद और मन्त्र वाचक है। कालाग्नि से लेकर वीरभद्र पर्यन्त षोडश भुवन हैं।

( २ ) **प्रतिष्ठा**—या आप्यायिनी कला में जल से लेकर अव्यक्त पर्यन्त तत्त्वों के लिए 'ह' से लेकर 'ट' पर्यन्त तेईस वर्ण वाचक हैं। छप्पन भुवन हैं। पाँच पद तथा पाँच ही मन्त्र हैं, दो, चार अक्षरों वाले और तीन, पाँच अक्षरों वाले।

( ३ ) **विद्या कला**—या बोधिनी में पुरुष से लेकर माया पर्यन्त तत्त्वों के लिए 'ञ' से लेकर 'घ' तक सात वर्ण वाचक हैं। पञ्चाक्षर तथा द्व्यक्षर दो पद तथा दो मन्त्र हैं। इसमें अट्ठाइस भुवन विद्यमान हैं।

---

१. पदमन्त्रवर्णमेकं पुरषोडशकं धरेति च निवृत्तिः।
तत्त्वार्णमग्निनयनं रसशरपुरमस्त्रमन्त्रपदमन्या॥ ५१॥
मुनितत्त्वार्णं द्विकपदमन्त्रं वस्वक्षिभुवनमपरकला।
अग्न्यर्णतत्त्वमेककपदमन्त्रं सैन्यभुवनमिति तुर्या॥ ५२॥
षोडशवर्णाः पदमन्त्रतत्त्वमेकं च शान्त्यतीतेयम्।
अभिनवगुप्तेनार्यात्रियमुक्तं सङ्ग्रहाय शिष्येभ्यः॥ ५३॥

—तन्त्रा०, ११ आ०

(४) **शान्ता कला**—या उत्पूयिनी में शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव के लिए ग, ख और क ये तीन वर्ण हैं। तीन अक्षरों वाला एक पद और एक ही मन्त्र है। अट्ठारह भुवन हैं।

(५) **शान्त्यतीता कला**—में छत्तीसवें शिव नामक तत्त्व के लिए विसर्ग से लेकर अ पर्यन्त सोलह वर्ण तथा स्वरषोडशात्मक एक पद और एक ही मन्त्र है। यहाँ शक्ति समेत शिव समझना चाहिए। इसमें भुवन नहीं हैं। इस प्रकार एक सौ अट्ठारह भुवन, छत्तीस तत्त्व, पाँच कलायें; दश पद और दश मन्त्र तथा पचास वर्ण मिलकर षड्विध अध्वा का निर्माण करते हैं। संक्षेप में यही वाच्यवाचकात्मक षडध्व का स्वरूप है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की सृष्टि सम्बन्धी दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए स्वातन्त्र्यवाद और आभासवाद का आश्रय लिया जाता है। परप्रमाता की दृष्टि से स्वातन्त्र्यवाद और प्रमेय की दृष्टि से आभासवाद की चरितार्थता है।

**स्वातन्त्र्यवाद**—स्वातन्त्र्य, परमेश्वर की पराशक्ति है। यह शक्ति, शिव से सर्वथा अभिन्न है। आनन्द इसका अपर पर्याय है। अति दुर्घटकारित्व परमात्मा का ऐश्वर्य है। यह स्वातन्त्र्य से भिन्न नहीं। अपने स्वातन्त्र्य या ऐश्वर्य से अनन्त रूपों में स्फुरित होता हुआ भी परमेश्वर स्वरूपतः अखण्ड एवं पूर्ण रहता है। परमात्मा की इच्छा का अनभिहत प्रसार उसका स्वातन्त्र्य है।

स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य अविघातः।

—ई० प्रत्यभिज्ञा वि० वि० १।१

एतदेव स्वातन्त्र्यं यदतिदुर्घटकारित्वम्।

जिसे परमात्मा का ऐश्वर्य या स्वातन्त्र्य कहा जाता है वही नित्य उदित परावाक् है। तत्त्वज्ञ इसी को विमर्शात्मा चिति के नाम से जानते हैं। यह शब्दतत्त्व, सृष्टि के प्रसार की आदि कोटि है और सृष्टिसङ्कोच दशा में चरम कोटि। शिव, प्रकाशात्मा चिति है। वस्तुतः दोनों अविनाभूत हैं। अविभक्त या अन्तर्लीन विमर्शात्मक शिव को ही परमशिव कहते हैं; यह निष्कलदशा है। 'चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा'। शिवदृष्टि, प्र० आ० श्लो० ४। प्रकाशविमर्शात्मक संवित्स्वभाव भगवान् परमशिव, अपने स्वातन्त्र्य से रुद्रादि प्रमाताओं तथा नीलसुखादि प्रमेयों के रूप में प्रकाशित होते हैं। यह प्रकाशन अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त के समान भासित होता है। इस स्थिति में भी स्वरूप का आच्छादन नहीं होता। यही संवित्स्वरूप शिव के स्वातन्त्र्य की महिमा है।

'तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया च अनति-

रिक्तयापि अतिरिक्तयेव स्वरूपानाच्छादिकया संवित्स्वरूपनान्तरीयकस्वातन्त्र्य-महिम्ना प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः। ( ई० प्रत्यभि० विवृति विमर्शिनी पृ० ८–९ )

**आभासवाद**—सङ्कुचित रूप से प्रकाशन ही आभास है। 'आभासनं—आ ईषत् सङ्कोचेन भासनं प्रकाशना।' (ई०प्र० वि० वि० अ० २ वि० २) आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिबिम्ब को आभास कहा है—'भासनसारतैव हिं, प्रतिबिम्बता'। 'इह अवभासनसारमेव प्रतिबिम्बतत्त्वम्।' इन उद्धरणों से आभास के द्विपक्षीय स्वरूप का संकेत मिलता है :—

१. विमर्शात्मक प्रकाशपुरुष का सङ्कुचित या अपूर्ण आत्मप्रकाशन आभास है।

२. विमर्शात्मक प्रकाशपुरुषरूपी दर्पण में अनितिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त के समान जड़-चेतन समग्र जगत् का प्रतिबिम्बन आभास है।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में दर्पणविधि का निर्देश केवल यह बताने के लिए किया गया है कि यह संसार प्रकाशपुरुष या शिव से बाहर कुछ भी नहीं है। इस प्रकार बाह्यार्थवादी का द्वैतप्रथात्मक संकुचित ज्ञान नष्ट करना इसका उद्देश्य है।

न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा,
नचान्योन्यासङ्गो न च तदपहानिर्न घनता।
न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति,
ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरदिशद्दर्पणविधिः॥ २३। तन्त्रा० आ० ३
—ई० प्र० वि० वि०, पृ० १६८

दर्पण से अतिरिक्त प्रतिबिम्ब की स्वतन्त्र सत्ता नहीं, अतः दर्पण से पृथक इसका कोई देश भी नहीं होता। प्रतिबिम्ब, काठिन्यात्मक मूर्ति नहीं अन्यथा इसका दर्पण से पृथक् देश होता। एक नभोदेश के मूर्त दर्पण द्वारा आक्रान्त होने पर वही देश अन्य मूर्ति से आक्रान्त नहीं हो सकता; अतः प्रतिबिम्ब में घनता न होने से इसका कोई रूप भी नहीं है। काल से भी इसका सम्बन्ध नहीं, क्योंकि कालयोग किसी पूर्वापरभावी की अपेक्षा से पृथक् सत्ता वाले पदार्थ में ही देखा जाता है। घनता न होने से उसमें परिमाण भी नहीं। दर्पण के अन्तर्गत अनेक पदार्थों के, एक साथ प्रतिभासित होने पर भी परस्पर निबिड़ रूप से वास्तविक संश्लेष नहीं होता, तथा सम्पूर्ण पदार्थों के परस्पर विविक्त रूप से भासित होने के कारण अन्योन्यासङ्ग की सर्वथा हानि कहना भी उचित नहीं। जो वस्तु भासित हो रही है उसे सर्वथा अवस्तु घोषित करना बुद्धिमानी नहीं किन्तु आभासमात्रसार होने के कारण उसमें वस्तुत्व के साधक, स्वल्पमात्र निजी तथ्यात्मक रूप का सम्भव कहां ?

सामान्य प्रतिबिम्बनात्मक क्रिया में बिम्बरूप वस्त्वन्तर की आवश्यकता अपरिहार्य है। किन्तु यहां महाचिति अपने ऐश्वर्य से, प्रतिबिम्ब समर्पक अन्य वस्तु रूप उपाधि के अभाव में ही स्वरूपात्मक भित्ति में विश्वाकार को प्रतिबिम्बित करती है :—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह,
यद्वद्विचित्ररचना मकुरान्तराले।
बोध: पुनर्निजविमर्शनसारवृत्त्या
विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु ॥ —अभिनवगुप्त

वस्तुतः परमशिव, स्वगर्भ में सूक्ष्म रूप से स्थित विश्व को उल्लेख[1] पूर्वक अवभासित करते हैं। समस्त चेतन और जड़ आभासमय हैं। अपने स्वातन्त्र्य या प्रतिभा शक्ति की महिमा से वे अनन्त ग्राह्यों और ग्राहकों के रूप में अवभासित होते हैं। अतः इस विश्व को असत् नहीं कहा जा सकता। और इस आभासन से उनकी पूर्णता में भी कोई क्षति नहीं होती।

'इदं···विश्वं एकस्यां वा परस्यां पारमेश्वर्यां भैरवसंविदि अविभागेन बोधात्मकेन रूपेणास्ते।'

वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ॥ ३२ ॥ ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
यस्यामन्तर्विश्वमेतद्विभाति बाह्याभासं भासमानं विसृष्टौ।
क्षोभे क्षीणेऽनुत्तरायां स्थितौ तां वन्दे देवीं स्वात्मसंवित्तिमेकाम् ॥
—अभिनवगुप्त

सृष्टि या क्षोभदशा में, जिसके अन्तर्गत बाह्य आभासात्मक यह विश्व भासित होता है; तथा क्षोभ के क्षीण हो जाने पर अनुत्तरात्मक स्थिति में वर्तमान उस अखण्ड स्वात्मसंवित्ति रूप देवी को मैं वन्दना करता हूँ।

**ग्रन्थकार, समय और रचनायें**—महामाहेश्वराचार्य राजानक क्षेमराज प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक[2] में अपने शिष्यों में से 'क्षेम[3]' का उल्लेख किया है। ये क्षेमराज से भिन्न नहीं हो सकते क्योंकि इन्होंने स्वतः प्रत्यभिज्ञाहृदय के प्रारम्भ में अपने लिए क्षेम नाम का ही उल्लेख किया है।

---

१. उल्लेखनं मनसि कल्पनम्।
अवभासनं विकल्पघनीभावेन स्फुरणम्।—भास्करी पृष्ठ ३४२।
२. अन्ये शिवव्यतनयाः शिवशक्तिशुभ्राः क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्म-गुप्ताः। ६७।—तन्त्रालोक आ० ३७।
३. क्षेमेणोद्ध्रियते सारः संसारविषशान्तये—प्रत्यभिज्ञाहृदय।

स्पन्दनिर्णय की कुछ मूललिपियों के समाप्तिसूचक वाक्य में क्षेमेन्द्र का नाम देखकर डॉ० बुह्लर[१] ने क्षेमराज और क्षेमेन्द्र को एक ही मानने का संकेत किया है किन्तु यह उचित नहीं। वस्तुतः क्षेमेन्द्र और क्षेमराज भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं।[२] क्षेमराज के किसी भी ग्रन्थ से उनके माता-पिता का निदर्शन नहीं मिलता स्तवचिन्तामणि[३] की विवृति के श्लोकों से पता चलता है सम्भवतः वे, विजयेश्वर आधुनिक बीजबिहार, जो श्रीनगर से पूर्व की ओर तीस मील दूर विद्यमान है, कुछ दिन रहे होंगे।

आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य होने के नाते क्षेमराज का समय अज्ञात नहीं है। ये निश्चित रूप से विक्रम की बारहवीं ( ई० ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध ) शताब्दी में विद्यमान थे। इनकी सम्पूर्ण कृतियां, जो देशिकेन्द्र अभिनवगुप्त की पदपद्धति पर आधारित हैं, इसी समय[४] से सम्बन्ध रखती हैं। इन्होंने न केवल तन्त्र और शैवदर्शन पर टीकायें और स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा किन्तु काव्य शास्त्र पर

---

१. Kṣemendra, the author of Spandanirṇaya, No. 511, and of Spandasandoha 517, appears to be identical with Kṣemarāja, the pupil of Abhinava.—Kashmir Catalogue, p. 79.

२. But our careful study shows that they are the works of Kṣemarāja and that if in the colophons of some MSS. the name of Kṣemendra is found, it must have been simply due to the mistake of the scribes. —Abhinavagupta, 147

३. गुणादित्याज्जातो गुणगणगरिष्ठः शिवगुणैः
कृतामोदो बाल्यात्प्रभृति गतसङ्गो जगति यः।
स शूरादित्यो मां बहुबहुलभक्त्याऽर्थयद्यत्,
स्तुतौ तेनाकार्षं विवृतिमिह नारायणकृतौ॥
श्रीरामेण कृतात्र सद्विवृतिरित्येषा किमर्थेति सा,
सन्तश्चेतसि कुध्वमस्ति विवृतौ कोऽपि प्रकर्षोऽत्र यत्।
तेनार्थिप्रणयाद्दिनैस्त्रिचतुरैर्या क्षेमराजो व्यधात्
क्षेत्रे श्रीविजयेश्वरस्य विमले सैषा शिवाराधनी॥

—स्तवचिन्तामणि पृ० १३०।

४. ( क ) Kṣemarāja being a pupil of Abhinavagupta, must have lived and written in the eleventh christian century.
—Kashmir Shaivism, p. 36.

( ख ) Abhinava's last available work was completed in 1014–15 A. D. We can, therefore, easily assign Kṣemarāja's leterary activities to the close of the first and practically the whole of the Second quarter of the eleventh century A. D.
—Abhinavagupta, p. 144.

भी अपनी पवित्र लेखनी चलाई है। कहा जाता है कि ध्वन्यालोकलोचन पर इनकी उद्योत नामक टीका थी। इनकी निम्नाङ्कित कृतियाँ कही जाती हैं :—

१. स्वच्छन्दतन्त्र की टीका 'उद्योत'।
२. नेत्रतन्त्र की टीका ,, ।
३. स्पन्दसन्दोहः।
४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।
५. स्पन्दनिर्णयः।
६. विज्ञानभैरवोद्योत।
७. शिवसूत्रविमर्शिनी।
८. स्तवचिन्तामणिविवृति।
९. पराप्रवेशिका।
१०. साम्बपञ्चाशिकाविवृति।
११. क्रमसूत्रटीका।
१२. स्तोत्र।
१३. भैरवानुकरणस्तोत्र।
१४. परमार्थसंग्रहवृत्ति।
१५. परमेशस्तोत्रावलीवृत्ति।
१६. उत्पलस्तोत्रावली टीका।
१७. तत्त्वसन्दोह।

**प्रत्यभिज्ञाहृदय**—प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्बन्ध में श्री जगदीशचन्द्र चटर्जी ने ठीक ही कहा है कि वेदान्तदर्शन में जो स्थान सदानन्द के वेदान्तसार का है वही काश्मीरीय शैवदर्शन में प्रत्यभिज्ञाहृदय का। इसमें तर्कबहुल प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की संक्षिप्त एवं सरल रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। केवल बीस सूत्रों एवं उन पर संक्षिप्त वृत्ति लिख कर आचार्य क्षेमराज ने साधारण जनों के लिए प्रवेशिका का निर्माण कर दिया है। महायोगी भास्करराय ने 'ललितासहस्रनाम' के भाष्य 'सौभाग्यभास्कर' एवं 'योगिनीहृदय' की टीका 'सेतुबन्ध' में प्रत्यभिज्ञाहृदय को शक्तिसूत्र के नाम से उद्धृत किया है।

**सूत्रों के विषय का संक्षिप्त संग्रह—**

१. चिति शक्ति, सब का कारण, सुखोपायप्राप्य तथा महाफल है।

२. चिति के साथ विश्व की एकात्मता।

३. चिन्मात्र होने पर भी अनुरूप विभागों द्वारा विश्व के स्वरूप का प्रतिपादन।

४ सङ्कुचित चिद्रूप पशु भी अशेष सङ्कुचित विश्वमय है।

५. नील-सुखादि अर्थोंद्वारा सङ्कुचित, चेतनपदसे अवतीर्ण, चिति ही चित्तहै।

६. मायाप्रमाता ( पशु ) चित्तमय है।

७. चिदात्मा तत्त्वतः एक है किन्तु प्रकाश के सङ्कोच और विकास से दो रूपों वाला, आणवादि मलों से आवृत होने पर तीन प्रकार का, शून्य, प्राण, पुर्यष्टक' और देहभेद से चतुरात्मक तथा शिवादि भेदों से पैंतीस अथवा सप्तप्रमातात्मक और पञ्चकञ्चुकरूप बन जाता है।

८. चार्वाक आदि दर्शनों के सिद्धान्त इस आत्मा की कृत्रिम भूमिकायें हैं या नील-सुख आदि ज्ञानों की अन्तर्मुख विश्रान्तियाँ आत्मा की अभिव्यक्ति हैं।

९. आत्मा भेदव्याप्ति का अवलम्बन करके इच्छादि शक्तियों के संकोच के पश्चात् संसारी बन जाता है।

१०. संसारी अवस्था में भी आत्मा पञ्चकृत्यों का विधान करता है।

११. जीवदशा में भी रहस्यमय पञ्चकृत्यों का निरूपण।

१२. पञ्चकृत्यों से अनभिज्ञ रहने पर स्वशक्तियों द्वारा निर्मित व्यामोह ही संसारित्व है।

१३. पञ्चकृत्यों के परिज्ञान के अनन्तर अन्तर्मुख चित्त, चिति का रूप ग्रहण करता है।

१४. मायाप्रमातृदशा में भी चित् शक्ति की अंशतः कार्यकारिता।

१५. चिदात्मक बल की प्राप्ति से विश्व के साथ अभेदापत्ति।

१६. विश्व के साथ तादात्म्य घटित होने पर देह के रहते ही अविचल चिदैक्यभाव जीवन्मुक्ति है।

१७. संवित् अथवा मध्यनाड़ी विकास से चिदानन्दलाभ होता है।

१८. मध्यविकास के लिये विकल्पक्षय आदि उपाय।

१९. नित्योदित समाधि निरूपण।

२०. समाधि लाभ के अनन्तर प्राप्त होने वाला चरम फल।

महिमामयी मातृकाशक्ति की कृपा से हिन्दीव्याख्यायुक्त प्रत्यभिज्ञाहृदय प्रकाशित हो रहा है। जिज्ञासुजनों को इससे सन्तोष होगा ऐसी आशा है।

सुन्दर प्रकाशन के लिये 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' तथा 'चौखम्बा विद्या भवन' वाराणसी के व्यवस्थापक महोदय को शुभाशीः।

उत्तीर्णोऽपि निजेच्छया हि परया पूर्णोऽवतीर्यान्विहम्।
मूर्त्यात्मन्यथ च क्रियाकुलमये रङ्गे कलाभिर्वृतः।
तैस्तैरप्यनुभावविभ्रमभरैः क्रीडन् मुहुः कौतुकी।
कुर्यान्नश्चितिचन्द्रपादविगलद्धारारसार्द्रं मनः॥

शिवशङ्कर अवस्थी

# विषय-सूची

॥ श्रीः ॥

# प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

## 'तत्त्वबोधिनी' हिन्दीव्याख्योपेतम्



नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्य[1]विधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने ॥ १ ॥
शाङ्करोप[2]निषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः ।
क्षेमेणोद्ध्रियते सारः संसारविषशान्तये ॥ २ ॥

इह ये सुकुमारमतयोऽकृततीक्ष्णतर्क[3]शास्त्रपरिश्रमाः शक्तिपा[4]तोन्मि-

---

१. पञ्चकृत्य—( क ) सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय ( निग्रह ) और अनुग्रह :—

सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ॥३॥ स्वच्छन्दतन्त्र, १ पटल ।

( ख ) आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन और विलापन ।

२. शाङ्करोपनिषद्—काश्मीरिक शिवाद्वयवाद का उपजीव्य ग्रन्थ 'शिवसूत्र' माना जाता है । इन सूत्रों को 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में 'शिवोपनिषद्' संग्रह के नाम से कहा है :—'प्रबुद्धश्चासौ ( वसुगुप्तः ) अन्विष्यन् तां महतीं शिलां करस्पर्शनमात्रपरिवर्तनतः संवादीकृतस्वप्नां प्रत्यक्षीकृत्य इमानि शिवोपनिषद्-सङ्ग्रहरूपाणि शिवसूत्राणि ततः समाससाद । प्रथम उन्मेष । पृ० ३ ।

३. तर्क—तर्को योगाङ्गमुत्तमम्' । तन्त्रालोक, आ० ४ श्लो० १५ ।

परम उपादेय, स्वप्रकाश, स्वात्मेश्वर का प्रत्यभिज्ञापक विचार तर्क कहलाता है ।

इस शास्त्र में षडङ्ग योग स्वीकृत हुआ है :—

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ तं० टीका, आ० ४ पृ० १५ ।

४. शक्तिपात—परमेश्वर की स्वतन्त्र, निरपेक्ष अनुग्रह शक्ति के पात या स्पर्श से स्वरूप का उन्मीलन होता है :—'स्थावरान्तेऽपि देवस्य स्वरूपो-न्मीलनात्मिका । शक्तिः पतन्ती सापेक्षा न क्वापीति सुविस्तरात् । २९४ ।
तन्त्रा०, आ० १३ ।

षित-पारमेश्वरसमावेशाभिलाषिणः कतिचित् भक्तिभाजः, तेषाम् ईश्वरप्रत्यभिज्ञोपदेशतत्त्वं मनाक् उन्मील्यते।

चिदानन्दमूर्ति, स्वात्मारूप परमार्थ को प्रकाशित करने वाले, निरन्तर पञ्चकृत्यकारी शिव को नमस्कार है। शिवोपनिषद्संग्रह के सारभूत प्रत्यभिज्ञा-दर्शनरूपी समुद्र का तत्त्व, संसाररूपी विष की शान्ति के लिए, क्षेमराज द्वारा उद्धृत किया जाता है।

इस संसार में, सुकुमार मति वाले कुछ भक्त, जो तीक्ष्ण तर्कशास्त्र में परिश्रम नहीं कर सके हैं किन्तु शक्तिपात जनित शिवसमापत्ति अथवा शिवैक्य लाभ की कामना करते हैं, उनके लिए ईश्वरप्रत्यभिज्ञा का तत्त्व संक्षिप्त रूप से प्रकट किया जाता है।

तत्र स्वात्मदेवताया एव सर्वत्र कारणत्वं सुखोपायप्राप्यत्वं महाफलत्वं च अभिव्यङ्क्तुमाह—

## चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ॥ १ ॥

'विश्वस्य—' सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य 'सिद्धौ' निष्पत्तौ, प्रकाशने स्थित्यात्मनि, परप्रमातृविश्रान्त्यात्मनि च संहारे, पराशक्तिरूपा 'चितिः' एव भगवती 'स्वतन्त्रा' अनुत्तर-विमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना 'हेतुः—' कारणम्।

---

१. समावेश—( क ) समापत्ति अथवा समाधिः—मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः। स एव च परमयोगिनः समावेशसमापत्त्यादिपर्यायः समाधिः—प्र० हृ० ( ख ) तादात्म्य—'चैतन्येन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल।' १७८। तं० आ० १

२. परप्रमातृ—इस शास्त्र में सप्त प्रमाता प्रसिद्ध हैं :—( १ ) सत्यप्रमाता, परप्रमाता—शिव। ( २ ) सदाशिवतत्त्वावस्थित प्रमाता—मन्त्रमहेश्वर। ( ३ ) ईश्वरतत्त्वावस्थित प्रमाता—मन्त्रेश्वर। ( ४ ) शुद्धविद्यातत्त्वावस्थित प्रमाता—मन्त्र। ( ५ ) शुद्धविद्या से नीचे और माया से ऊपर स्थित प्रमाता—विज्ञानाकल। ( ६ ) मायातत्त्वावस्थित प्रमाता—प्रलयाकल, प्रलयकेवली। ( ७ ) मायाप्रमाता, परिमितप्रमाता, सङ्कुचितप्रमाता—सकल ( जीव )

३. अनुत्तर०—जिससे अधिक कोई न हो। 'अनुत्तरं कथं देवि सद्यः कौलिकसिद्धिदम्'। परात्रिंशिका के इस प्रथम श्लोकगत अनुत्तर शब्द की व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त ने सोलह प्रकार से की है। यहाँ अनुत्तर-विमर्शमयी से तात्पर्य है—अक्रमा स्वात्मविमर्शसंरम्भमयी अर्थात् विमर्शनाम्नी क्रिया और यही अनुत्तर भी है अतः यह सुतरां अनुत्तरविमर्शमयी

वहाँ अपना आत्मदेवता ही सब का कारण, सुखोपाय द्वारा प्राप्य तथा महाफल है—इस बात को अभिव्यक्त करने के लिए कहते हैं:—

स्वतन्त्र चिति ही सृष्टि, स्थिति और लय अथवा संसारगत भोग-मोक्ष-स्वरूप सिद्धियों की हेतु है ॥ १ ॥

सदाशिव से लेकर भूमिपर्यन्त विश्व की सिद्धिरूप निष्पत्ति, स्थितिरूप प्रकाशन और परप्रमाता में विश्रान्तिरूप संहार के लिए स्वतन्त्र, अनुत्तर-विमर्शमयी, शिवभट्टारक से अभिन्न, पराशक्तिरूप भगवती चिति ही कारण है।

अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति;—इति स्वानुभव[1] एव अत्र साक्षी। अन्यस्य तु माया-प्रकृत्यादेः चित्प्रकाशभिन्नस्य अप्रकाशमानत्वेन असत्त्वात् न कचिदपि हेतुत्वम्; प्रकाशमानत्वे तु प्रकाशैकात्म्यात् प्रकाशरूपा चितिरेव हेतुः; न त्वसौ कश्चित्। अत एव देशकालाऽऽकारा एतत्सृष्टा एतदनुप्राणिताश्च नैतत्स्वरूपं भेत्तुमलम्; इति व्यापक-नित्योदित-परिपूर्णरूपा इयम्—इत्यर्थलभ्यमेव एतत्।

ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्; अभेदे च कथं हेतुहेतुमद्भावः? उच्यते। चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति,—इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः। यतश्च इयमेव प्रमातृप्रमाणप्रमेयमयस्य विश्वस्य सिद्धौ–प्रकाशने हेतुः ततोऽस्याः स्वतन्त्रापरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपायाः सिद्धौ अभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रमाणवराक[2]मुपयुक्तम् उपपन्नं वा। तदुक्तं त्रिकसारे—

---

है तथा शिवभट्टारक या प्रकाश से अभिन्न भी। इसी लिए इसको स्वतन्त्र कहा जाता है। परविमर्श और परप्रकाश का एकात्मक रूप ही स्वतन्त्र कहे जाने योग्य है।

यह जगत् वाच्यवाचक रूप में अवभासित होता है। प्रकाशात्मा शिव वाच्यात्मक विश्व के रूप में स्फुरित होते हैं और विमर्श, अ से ह तक वाचक वर्णों के रूप में। शक्ति, अनुत्तर, अनाख्य परमशिवरूप अकार से 'ह' तक वाचकों का विसर्जन करती है और दूसरी ओर वाच्यात्मक शिव से अभिन्न भी है।

१. स्वानुभव एव—सामान्य जनों का अनुभव है कि चेतना के प्रसार से ही शरीर प्रसृत होता हैं और उसके सङ्कोच से सङ्कुचित अतः यही अनुभव यहाँ साक्षी है।

२. प्रमाणवराक :—सूर्य के प्रकाशन में दीपक समर्थ नहीं वैसे ही बेचारा प्रमाण भी है।

इस चिति के चेष्टा करने पर जगत् का उद्भव एवं स्थापन होता है तथा प्रसार के निवृत्त होने पर जगत् का लय हो जाता है—इस विषय में अपना अनुभव ही साक्षी है। चित्प्रकाश से भिन्न, अप्रकाशमान अतः असत् होने से अन्य माया-प्रकृति आदि की कहीं भी कारणता नहीं है। और यदि उन्हें प्रकाशमान माना जाय तो प्रकाश के साथ ऐक्य होने के कारण प्रकाश रूप चिति ही हेतु है, माया आदि कोई भी नहीं। अत एव देश, काल एवं आकार, इसके द्वारा रचित तथा अनुप्राणित होने के कारण इसके स्वरूप को खण्डित नहीं कर सकते। अतः यह चिति शक्ति, व्यापक, नित्य उदित तथा परिपूर्णरूप है—यह सूत्रार्थ से ही स्पष्ट है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जगत् भी चित् से भिन्न नहीं है तब अभेदावस्था में इन दोनों की कार्यकारणता कैसी? इस पर कहते हैं—भगवती चित् ही जो स्वच्छ और स्वतन्त्र है भिन्न-भिन्न अनन्त संसारों के रूप में स्फुरित होती है—इतना ही वहाँ पारमार्थिक कार्यकारणभाव है। यही, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप विश्व के प्रकाशन में कारण है अतः स्वतन्त्र, अपरिच्छिन्न एवं स्वप्रकाशरूप इस चिति शक्ति की सिद्धि में, नवीन अर्थ को प्रकाशित करने वाला बेचारा प्रमाण, उपयोगी तथा उपपन्न नहीं। जैसा कि त्रिकसार[1] नामक ग्रन्थ में कहा गया है—

स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं वैन्दवी[2] कला॥

इति।

यतश्च इयं विश्वस्य सिद्धौ पराद्वयसामरस्यापादनात्मनि च संहारे हेतुः, तत एव स्वतन्त्रा। प्रत्यभिज्ञातस्वातन्त्र्या सती, भोगमोक्षस्वरूपाणां विश्वसिद्धीनां हेतुः—इति आवृत्त्या व्याख्येयम्।

अपि च 'विश्वं-' नील-सुख-देह-प्राणादि; तस्य या 'सिद्धिः'-

---

१. त्रिकसार—इस ग्रन्थ का नाम 'त्रिकहृदय' भी है। नेत्रतन्त्र १ पटल ( पृ० ३७ ) तथा शिवसूत्र ( पृ० ९ ) की टीका में इसी नाम से प्रस्तुत श्लोक को क्षेमराज ने उद्धृत किया है।

२. वैन्दवीकला—परप्रमातृरूप परमेश्वर शिव को, विदिक्रिया में स्वतन्त्र होने के कारण विन्दु कहा जाता है उनकी कला—शक्ति ही वैन्दवी कला है। 'अविभागः प्रकाशो यः स विन्दुः परमो हि नः' तन्त्रा० ३ आ० श्लो० १११।

प्रमाणोपारोहक्रमेण विमर्शमयप्रमात्रावेशः, सैव 'हेतुः'–परिज्ञाने उपायो यस्याः। अनेन च सुखोपायत्वमुक्तम्। यदुक्तं श्रीविज्ञानभट्टारके।

'ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे[2] सावधानता॥'

जिस प्रकार कोई व्यक्ति, अपने पैर से अपने ही शिर की छाया को लाँघना चाहता है किन्तु पैर के नीचे शिर नहीं आ पाता वैसे ही इस वैन्दवी कला चिति शक्ति को समझना चाहिए।

और यह शक्ति, विश्व की सिद्धि अर्थात् अद्वय परतत्त्व के साथ सामरस्य—ऐक्य सम्पादनात्मक संहार में हेतु है इसीलिए इसे स्वतन्त्र कहा जाता है। जब व्यक्ति को इसके स्वातन्त्र्य की प्रत्यभिज्ञा—पहचान हो जाती है तब यही भोग-मोक्ष रूप सम्पूर्ण सिद्धियों की हेतु बनती है—इस प्रकार सूत्र की आवृत्ति द्वारा व्याख्या करनी चाहिए। अथवा बहिरिन्द्रियगम्य नील-पीत आदि, अन्तरिन्द्रिय-गम्य सुख आदि, जीव-चेष्टागम्य प्राण आदि रूप विश्व की सिद्धि—अर्थात् प्रमाणों के उपारोह क्रम से विमर्शमयप्रमाता के साथ तादात्म्य में वही शक्ति हेतु अर्थात् उपाय है—इससे सरल उपायरूपता कही गई है। जैसा कि विज्ञान भैरवतन्त्र में कहा गया है—

---

१. प्रमाणोपारोहक्रमेण—प्रत्येक प्रमाता पुरुष, किसी भी पदार्थ के बोध की इच्छा से, पहले शब्दात्मक प्रमाण में उपारूढ होकर प्रमेयों की आलोचना करता है तदनन्तर 'इदमित्थं' रूप से पदार्थ की कल्पना की जाती है तत्पश्चात् 'मैंने यह अर्थ ज्ञात किया' इस सन्तोष के अभिमान से पदार्थ के बाह्य रूप का विलय होकर स्वात्ममात्र में उसकी विश्रान्ति होती है यही प्रमाणोपारोहक्रम से विमर्शमयप्रमाता में आवेश है। द्र० तन्त्रा आ० ५ श्लो० ६३–६४।

२. सम्बन्धे सावधानता—ग्राह्य और ग्राहक के मध्य में जो योजक तत्त्व-कि 'यह इसका ग्राह्य है' और यह इसका ग्राहक है—इस प्रकार परामर्शक परमात्मतत्त्व में जो निष्ठा या सतत स्मृति है वही सम्बन्ध अर्थात् ग्राह्य-ग्राहकस्वरूप के अवधारण में सावधानी है। क्रय-विक्रयादिरूप समल व्यवहार में भी योगियों की परमात्मविस्मृति नहीं होती। यही सामान्य जनों से उनका उत्कर्ष है। द्रष्टव्य—इत्थमत्यर्थभिन्नार्थावभासखचिते विभौ, समलो विमलो वापि व्यवहारोऽनुभूयते (अ० १ आ० ७) इस ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका की 'भास्करी' टीका तथा विज्ञानभैरवतन्त्र की (श्लो० १०५) विज्ञानकौमुदी टीका। 'निर्विकल्पकदशाधिशायिनां पुनस्तत्तोभावसरेऽपि ग्राह्यग्राहकयोर्यत उदयो यत्र वा विश्रान्तिः तत्रैवावहितत्वं येन सर्वेप्सितफलसम्पत्तिः।'

तन्त्रा० टीका आ० १० श्लो २०४।

ग्राह्य और ग्राहकरूप संवेदन सभी प्राणियों में सामान्य रूप से होता है किन्तु योगियों के सम्बन्ध में यह विशेषता है कि वे सम्बन्ध में सावधान रहते हैं।

'चितिः'—इति एकवचनं देशकालाद्यनवच्छिन्नताम् अभिदधत् समस्तभेदवादानाम् अवास्तवतां व्यनक्ति। 'स्वतन्त्र–' शब्दो ब्रह्मवाद-वैलक्षण्यम् आचक्षाणः चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते। 'विश्व'–इत्यादिपदम् अशेषशक्तित्वं, सर्वकारणत्वं, सुखोपायत्वं महाफलं च आह ॥ १ ॥

ननु विश्वस्य यदि चितिः हेतुः, तत् अस्या उपादानाद्यपेक्षायां भेदवादापरित्यागः स्यात्—इत्याशङ्क्य आह—

## स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ॥ २ ॥

'स्वेच्छया,' न तु ब्रह्मादिवदन्येच्छया, तयैव च, न तु उपादानाद्य-पेक्षया,–एवं हि प्रागुक्तस्वातन्त्र्यहान्या चित्त्वमेव न घटेत–'स्वभित्तौ,' न तु अन्यत्र क्वापि, प्राक् निर्णीतं 'विश्वं' दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव 'उन्मीलयति'। उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्। इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तम् ॥ २ ॥

चितिः—यह एक वचन का प्रयोग इसे देश-काल से अनवच्छिन्न बताता हुआ सम्पूर्ण भेदवादों की अवास्तविकता को प्रकट करता है। 'स्वतन्त्र' शब्द ब्रह्मवाद से इसकी विलक्षणता का बोध कराता हुआ—महेश्वरता का सार ही चिति है—यह स्पष्ट करता है। 'विश्व' इस पद द्वारा अशेष शक्तिमत्ता, सर्व-कारणता, सुखोपायता एवं महाफलता का बोध कराया गया है।

यदि चिति संसार का कारण है तो इसके लिए उपादानादि की अपेक्षा होने से भेदवाद का त्याग सम्भव नहीं हो सकता—इस आशङ्का पर कहते हैं:—

स्वेच्छा से ही चिति शक्ति स्वात्मारूप भित्ति में विश्व का उन्मीलन करती है ॥ २ ॥

स्वेच्छा से, ब्रह्मादिकों के सदृश अन्य की इच्छा से नहीं, और उसी के द्वारा—अन्य उपादानादि की अपेक्षा से नहीं। यदि अन्य की अपेक्षा हो तो पहले कहे गये स्वातन्त्र्य की हानि से चितित्व ही घटित न होगा। स्वात्मक भित्ति में, अन्यत्र कहीं नहीं; पहले निर्णीत विश्व को, दर्पण में नगर के समान अभिन्न होते हुए भी भिन्न के सदृश उन्मीलित करती है। अवस्थित वस्तु का प्रकटीकरण ह उन्मीलन है। इससे प्रकाश के साथ एकात्मरूप से संसार के अवस्थान की व्या कही गई है।

अथ विश्वस्य स्वरूपं विभागेन प्रतिपादयितुमाह—

तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात् ॥ ३ ॥

'तत्' विश्वं 'नाना'–अनेकप्रकारम् । कथम् ? 'अनुरूपाणां'–परस्परौचित्यावस्थितीनां 'ग्राह्याणां ग्राहकाणां' च 'भेदात्'–वैचित्र्यात् । तथा च सदाशिवतत्त्वे[1] अहन्ताच्छादित-अस्फुटेदन्तामयं[2] यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठितो[3] मन्त्रमहेश्वराख्यः[4] प्रमातृवर्गः परमेश्वरेच्छावकल्पिततथावस्थानः । ईश्वरतत्त्वे[5] स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं, तथाविध एव ईश्वरभट्टारकाधिष्ठितो[6]—

---

१. सदाशिवतत्त्व—भुवन ।

२. अहन्ताच्छादित—अस्फुट-इदन्ता—आत्मा के दो अंश है एक ( अहं ) दूसरा 'इदम्'; पहले को ग्राहक या प्रमाता तथा दूसरे को ग्राह्य अथवा प्रमेय कहते हैं । शिव-शक्ति दशा 'अहं' रूप है यह पर अवस्था है; सदाशिव दशा में इदन्ताबोध उल्लसित होता है किन्तु अस्फुट रूप में, वह भी अहन्ता प्रधान होने के कारण अहन्ता से आच्छादित कहा जाता है । अहं प्रधान होने से यह पररूप तथा इदन्ता के गौण रूप से विद्यमान रहने के कारण यह अपररूप है अतः इसे परापररूप कहते हैं ।

३. सदाशिवभट्टारक—शिव का अधिकारी रूप ।

४. मन्त्रमहेश्वर—ये अणुसदाशिव कहे जाते हैं । सदाशिवतत्त्व निवासी ये, एक प्रकार से मुक्त पुरुष ही हैं तथापि सर्वथा मलहीन न होने के कारण शिवता या परामुक्ति प्राप्त नहीं किये रहते । इनमें कुछ आणवमल शेष रहता है । पृथक् होते हुए भी इनका अहं बोध सदाशिवात्मक ही होता है ।

५. ईश्वरतत्त्व—भुवन, ईश्वर नामक क्षेत्र ।

६. ईश्वरभट्टारक—परम शिव का अधिकारी रूप । यह सदाशिव का उन्मेषात्मक या बहिर्मुख रूप है ।

परमेश्वर की इच्छा स्वातन्त्र्यशक्ति से उद्गीर्ण–उद्भासित जगत्–'इदन्ता को, आत्म अहन्ता से आच्छादित करते वर्तमान, निखिल विश्व के अनुग्रह में निरत, इदन्ता के उन्मेष में भी शिवता के वर्तमान रहने से इन्हें सदाशिव कहा जाता है ।'

'इसके पश्चात् निखिल विश्व को इदन्ता के प्राधान्य रूप में अनुभव करता हुआ परमेश्वर, ईश्वरपद द्वारा कहा जाता है ।'

—द्रष्टव्य-परिशिष्ट श्लोक ३–४ ।

मन्त्रेश्वरवर्गः[1]। विद्यापदे[2] श्रीमदनन्त[3]-भट्टारकाधिष्ठिता बहुशाखावान्तरभेदभिन्ना यथाभूता मन्त्राः[4] प्रमातारः तथाभूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि प्रमेयम्।

विभागपूर्वक विश्व के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र की अवतारणा करते हैं—

अनुरूप ग्राह्य और ग्राहक भेद से वह विश्व अनेक प्रकार का है ॥ ३ ॥

---

१. मन्त्रेश्वर वर्ग :—ईश्वरतत्त्व या ऐश पुर में अन्य पुर विद्यमान हैं। (१) शिखण्डी (२) श्रीकण्ठ (३) त्रिमूर्ति (४) एकनेत्र (५) एक रुद्र (६) शिवोत्तम (७) सूक्ष्म और (८) अनन्त ये ८ विद्येश्वर, गुणाधिक्य से ऊर्ध्व ऊर्ध्वतर भुवनों में निवास करते हैं। शिखण्डी निचले भुवन में और अनन्त सबसे ऊपर वाले भुवन में रहते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र में इन्हें पूर्व दिशा से लेकर ईशानान्त दिशाओं का निवासी बताया गया है। द्र० तन्त्रालोक, आ० ८ श्लो० ३४१—३४३ तथा टीका। ये विद्येश्वर साढ़े तीन करोड़ मन्त्रेश्वरों के नायक हैं।

२. विद्यापद—शुद्धविद्या—'सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियोः।' ई० प्र० वि० वि०, अ० ३ वि० १ आगमाधिक०। इदन्ता और अहन्ता का जहाँ सामानाधिकरण्य है वह शुद्धविद्या है। परिशिष्ट का० ४ भी द्रष्टव्य है। सदाशिव तत्त्व में 'अहमिदं' विमर्श होता है यहाँ 'अहं' की प्रधानता रहती है—ग्राहक में ग्राह्य प्रक्षिप्त रहता है। ईश्वर तत्त्व में 'इदमहं' बोध होता है, यहाँ स्फुटीभूत ग्राह्य में 'अहं' के प्रक्षेप से सामानाधिकरण्य रहता है। समान अधिकरण क्या है यह जानना चाहिए—शुद्ध संविन्मात्र ही तीनों में अधिकरण है। 'यदा तु मध्यकोटौ समधृततुलावत् विश्राम्यतः तया अहमिदमिति ग्राहके ग्राहस्य प्रक्षेपोऽत एव ध्यामलग्राह्यांशो विमर्शः सदाशिवनाथे। इदमहमिति ग्राह्ये स्फुटीभूतेऽहमिति प्रक्षेपात् सामानाधिकरण्य-विमर्श ईश्वरभट्टारके'।

—ई० प्र० वि० वि०, भाग ३, पृ० २६६

३. अनन्तभट्टारक—प्रधान विद्येश्वर। सात विद्येश्वरों एवं मन्त्रेश्वरों के नायक—

मुख्यमन्त्रेश्वराणां यत् सार्धं कोटित्रयं स्थितम्।
तन्नायका इमे तेन विद्येशाश्चक्रवर्तिनः॥ तं०, आ ८ श्लो० २४४।

४. मन्त्राः—ये संख्या में सात करोड़ हैं—'सप्तकोट्यो मुख्यमन्त्रा विद्यातत्त्वेऽत्र संस्थिताः।' ३३९, वही।

वह विश्व अनेक प्रकार का है। कैसे? परस्पर उचित स्थिति वाले ग्राह्य— प्रमेय ( पदार्थों ) और ग्राहकों-प्रमाताओं के वैचित्र्य से। सदाशिवतत्त्व में अहन्ता से आच्छादित और अस्फुट इदन्तामय जैसा परापररूप विश्व, ग्राह्य है वैसा ही सदाशिवभट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रमहेश्वर नामक प्रमातृवर्ग भी परमेश्वर की इच्छा से कल्पित हुआ है। ईश्वरतत्त्व में स्फुट इदन्ता और अहन्ता का समानाधिकरणरूप जैसा विश्व ग्राह्य है वैसा ही ईश्वर भट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रेश्वरवर्ग ही ग्राहक है। विद्यापद में श्रीमदनन्तभट्टारक से अधिष्ठित बहु शाखाओं एवं अन्यान्य भेदों से भिन्न जैसे मन्त्ररूप ग्राहक हैं वैसा ही भेदात्मक विश्व, ग्राह्य है।

मायोर्ध्वे यादृशा विज्ञानकलाः कर्तृताशून्यशुद्धबोधात्मानः, तादृगेव तदभेदसारं सकलप्रलयाकलात्मकपूर्वावस्थापरिचितम् एषां प्रमेयम्।

माया के ऊर्ध्व भाग में कर्तृता-शून्य शुद्ध-बोधात्मा जिस प्रकार विज्ञानाकल ग्राहक हैं वैसा ही सकल और प्रलयाकलात्मक पूर्व अवस्थाओं से परिचित, अभेद रूप इनका प्रमेय है।

मायायां शून्यप्रमा[1]तृणां प्रलयकेवलिनां स्वोचितं प्रलीनकल्पं प्रमेयम्। क्षितिपर्यन्तावस्थितानां तु सक[2]लानां सर्वतो भिन्नानां परिमितानां तथाभूतमेव प्रमेयम्। तदुत्तीर्णशिव[3]भट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः। श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादि-धरण्यन्तं अखिलं अभेदेनैव स्फुरति; न तु वस्तुतः अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपि तु

---

१. शून्यप्रमातृणां प्रलयकेवलिनां—प्रलयकाल में कला आदि के विलीन हो जाने पर केवल कार्म और आणव—इन दो पाशों से बंधे हुए जीव, नई सृष्टि के आरम्भ होने तक माया के अन्दर वर्तमान रहते हैं। इन्हें प्रलयाकल, प्रलयकेवली या शून्यप्रमाता कहते हैं।

२. सकलानाम्—आणव, मायीय और कार्म मलों से आवृत आत्मा, सकलप्रमाता कहे जाते हैं; भूमि पर्यन्त इनकी स्थिति है इन में देवगण का भी समावेश है।

३. शिवभट्टारक—'स्वतन्त्र चिद्घनसंविस्स्वभाव अनुत्तरमूर्ति परमेश्वर, जब अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति द्वारा, अखिल जगत् की रचना के लिए किञ्चित् चलनात्मक दशा का अनुभव करते हैं तो उस प्रथम स्पन्द को तत्त्वज्ञ, शिवतत्त्व के नाम से कहते हैं।' द्रष्टव्य परिशिष्ट, प्रथम आर्या।

श्रीपरमशिवभट्टारक[1] एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति। इत्यभिहितप्रायम् ॥ ३ ॥

माया में प्रलयकेवली-शून्यप्रमाताओं का उनके अनुरूप प्रलीन सदृश प्रमेय रहता है। भूमि पर्यन्त अवस्थित सकल नामक प्रमाताओं का, जो परिमित और पूर्णतया भिन्न भिन्न हैं, वैसा ही प्रमेय भी है। इन सप्त प्रमाताओं से परे प्रकाशैकशरीर शिवभट्टारकरूप प्रमाता के लिए प्रकाशैकरूप ही प्रमेय हैं। विश्व से परे तथा विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघन श्रीमान् परमशिव का ऐसा ही, शिव से लेकर धरा पर्यन्त सम्पूर्ण प्रमेय, अभिन्न रूप से ही स्फुरित होता है। वस्तुतः कोई अन्य ग्राह्य-ग्राहक है ही नहीं अपितु परमशिव ही इस प्रकार अनन्त विचित्रताओं के रूप में स्फुरित होते हैं यह स्पष्ट है।

यथा च भगवान् विश्वशरीरः तथा—

## चितिसङ्कोचात्मा चेतनोऽपि सङ्कुचितविश्वमयः ॥ ४ ॥

श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं सदाशिवाद्युचितेन रूपेण अवबिभासयिषुः पूर्वं चिदैक्याख्याति[2]मयानाश्रित[3]शिवपर्यायशून्यातिशून्या[4]त्मतया प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति; ततः चिद्रसाश्यानतारूपाशेषतत्त्व[5]भुवन-भाव-तत्तत्प्रमात्राद्यात्मतयापि प्रथते। यथा च

१. परमशिव भट्टारक—द्रष्टव्य–भूमिका।

२. अख्याति—अप्रथन, आणवमल, सङ्कोच।

३. अनाश्रितशिव—स्वशक्ति का आश्रय होने के कारण शिवको अनाश्रित कहा जाता है। अथवा शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या—इन पञ्च कारणरूप शिवों में आश्रय रहित होने के कारण शिव की अनाश्रित संज्ञा है। अन्य कारण, पूर्व कारणों के आश्रित हैं।

४. शून्यातिशून्य—शिवतत्त्वमतः शून्यातिशून्यं स्यादनाश्रि (वृ) तम्। तन्त्रा० ११ आ० श्लो २। शून्य अर्थात् व्यापिनी आदि पद से (भाव संस्कार के भी क्षीण हो जाने पर) भी शून्य होने के कारण शिव को शून्यातिशून्य कहते हैं। 'शून्यात् व्यापिन्यादिपदाद् भावसंस्कारस्यापि प्रक्षयात् अतिशून्यं षट्त्रिंशं तत्त्वमित्यर्थः।

५. तत्त्व—छत्तीस, भुवन—एक सौ अट्ठारह अथवा दो सौ चौबीस; (द्र० भूमिका) भाव—धर्मादि ८ भाव एवं उनके ५० भेद—'भावयन्ति वासयन्ति अन्तःकरणमिति भावाः धर्माद्याऽष्टौ—स्वच्छन्दतन्त्र, टीका पटल ११ श्लोक० १२६। 'भावभेदाः समाख्याताः पञ्चाशत्ते यथाक्रमम्'। १३९। वही।

एवं भगवान् विश्वशरीरः, तथा 'चितिसङ्कोचात्मा' सङ्कुचितचिद्रूपः 'चेतनो' ग्राहकोऽपि वटधानिकावत् सङ्कुचिताशेषविश्वरूपः। तथा च सिद्धान्तवचनम्।

'विग्रहो विग्रही चैव सर्वविग्रहविग्रही।'

इति। त्रिशिरोमतेऽपि।

'सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं शृणु प्रिये।
पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम्॥

जिस प्रकार संसार भगवान् का शरीर है वैसे ही—सङ्कुचित-चिति शक्ति-रूप जीवात्मा भी सङ्कुचित विश्वमय शरीर को धारण करने वाला है॥ ४॥

श्री परमशिव, अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में अवस्थित विश्व को सदाशिव, आदि रूप से प्रकाशित करने की इच्छा करते हुए पहले, चिदैक्यसङ्कोचमय अनाश्रित शिव अथवा शून्यातिशून्य रूप में प्रकाशात्मक तथा प्रकाशमान रूप से स्फुरित होते हैं। पश्चात् घनीभूत चिद्रसमय सम्पूर्ण तत्त्व, भुवन, भाव तथा भिन्न भिन्न प्रमाताओं के रूप में अपने को विकसित करते हैं। जिस प्रकार भगवान् विश्वरूप शरीर वाले हैं वैसे ही सङ्कुचित चिद्रूप प्रमाता भी वटबीज के समान सङ्कुचित समस्त विश्वरूप होता है। जैसा कि सिद्धान्त वचन है:—

वह, पृथक् रूप से शरीर भी है और शरीरी भी तथा समष्टि रूप से समस्त शरीरों का शरीरी-आत्मा है।

त्रिशिरोमत में भी—हे प्रिये, अब सुनो, शरीर सब देवों से युक्त होता है। वहाँ कठिन अंश पृथ्वी और द्रवांश जल कहा गया है।

इत्युपक्रम्य।

'त्रिशिरोभैरवः[1] साक्षाद् व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः'।

इत्यन्तेन ग्रन्थेन ग्राहकस्य सङ्कुचितविश्वमयत्वमेव व्याहरति। अयं च अत्राशयः—ग्राहकोऽपि अयं प्रकाशैकात्म्येन उक्तागमयुक्त्या च विश्वशरीरशिवैकरूप एव, केवलं तन्मायाशक्त्या अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् सङ्कुचित इव आभाति; सङ्कोचोऽपि विचार्यमाणः चिदैकात्म्येन प्रथमानत्वात् चिन्मय एव, अन्यथा तु न किञ्चित्। इति सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव। तदुक्तं मयैव—

---

१. विश्व का भरण रवण-संहार तथा वमन—उल्लासन करने वाले परम शिव-भैरव कहे जाते हैं; नर, शक्ति और शिव ये तीन भेद उन्हें त्रिशिरो भैरव की संज्ञा प्रदान करते हैं।

'आख्यातिर्यदि न ख्याति ख्यातिरेवावशिष्यते ।
ख्याति चेत्ख्यातिरूपत्वात् ख्यातिरेवावशिष्यते ॥'

इति । अनेनैव आशयेन श्रीस्पन्दशास्त्रेषु,

'यस्मात्सर्वमयो[1] जीवः········· ।'

इत्युपक्रम्य ।

'तेन[2] शब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न यः शिवः ।'

इत्यादिना शिवजीवयोरभेद एव उक्तः । एतत्तत्त्वपरिज्ञानमेव मुक्तिः, एतत्तत्त्वापरिज्ञानमेव च बन्धः; इति भविष्यति एव एतत् ॥ ४ ॥

यहाँ से प्रारम्भ करके—'त्रिशिरोभैरव, साक्षात् ( व्यक्ति के रूप में ) विश्व को व्याप्त करके स्थित हैं ।'

इस उपसंहार ग्रन्थ द्वारा ग्राहक, सङ्कुचित विश्वमय ही है ऐसा कहा जा रहा है। यहाँ यह तात्पर्य है—यह ग्राहक ( जीव ) भी प्रकाश तत्त्व के साथ एकात्म होने से तथा उक्त आगम की युक्ति से, विश्वरूप शरीरधारी शिव से अभिन्न ही है। केवल उसकी मायाशक्ति से स्व-रूप के अभिव्यक्त न होने से सङ्कुचित के सदृश प्रतीत होता है। और सङ्कोच भी विचार करने पर चिदैक्य रूप से विकसित होने के कारण चिन्मय ही है इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस प्रकार सभी जीव विश्वशरीर वाले शिवभट्टारक ही हैं। जैसा कि मैंने कहा है—ख्याति अर्थात् सङ्कोच यदि प्रथित नहीं होता तो उस स्थिति में चिति शक्ति ( ख्याति ) ही शेष रहती है। और यदि सङ्कोच, क्रियाशील होता है तो चिद्रूप होने के कारण फिर भी चिति ही बच रहती है।

इसी आशय से स्पन्दशास्त्र में—'क्योंकि जीव सर्वात्मक है।' यहाँ से उपक्रम करके—इस लिए शब्द और ( घट-पटादि ) अर्थ की चिन्ताओं में ऐसी कोई अवस्था नहीं है जो शिव स्वरूप न हो।'—इत्यादि वाक्यों द्वारा

१. सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—'यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात् । तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ।

२. स्पन्दकारिका, निष्यन्द २ । अर्थात् ज्ञायमान समस्त पदार्थ जीव के अपने अङ्गसदृश हैं; शिर, पाणि आदिमय ही नहीं किन्तु घटसुखादि भावात्मक भी इसका शरीर है। ज्ञायमानता ही विषयों की स्वरूप प्रतिष्ठा है जो बिना ज्ञाता के सम्भव नहीं। अतः ज्ञाता—जीव से भी समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, इसलिए वह भी विश्वमय है ।

इस श्लोक का उत्तरार्ध इस प्रकार है—भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ।

( स्पन्द का०, २ नि०, का० ४ )

शिव और जीव का अभेद बताया गया है। इस तत्त्व का परिज्ञान ही मुक्ति है; और इस तत्त्व का अपरिज्ञान बन्धन।

ननु ग्राहकोऽयं विकल्पमयः[1], विकल्पनं च चित्तहेतुकं; सति च चित्ते, कथमस्य शिवात्मकत्वम्? इति शङ्कित्वा चित्तमेव निर्णेतुमाह–

**चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसङ्कोचिनी चित्तम् ॥ ५ ॥**

न चित्तं नाम अन्यत्किञ्चित्, अपि तु सैव भगवती तत्। तथा हि सा स्वं स्वरूपं गोपयित्वा यदा सङ्कोचं गृह्णाति, तदा द्वयी गतिः; कदाचित् उल्लसितमपि सङ्कोचं गुणीकृत्य चित्प्राधान्येन स्फुरति; कदाचित् सङ्कोचप्रधानतया। चित्प्राधान्यपक्षे सहजे[2] प्रकाशमात्रप्रधानत्वे[3] विज्ञानाकलता; प्रकाशपरामर्शप्रधानत्वे तु विद्याप्रमातृता।

ग्राहक विकल्पमय है और विकल्पना का कारण है चित्त। चित्त के वर्तमान रहने पर ग्राहक शिवात्मक कैसे हो सकता है? इस प्रकार शङ्का करके चित्त का स्वरूपनिर्णय करने के लिए कहते हैं—

'चेतन पद से अवतरित तथा विषयों द्वारा सङ्कुचित चिति ही चित्त है ॥५॥

चित्त नामक कोई अन्य पदार्थ नहीं है अपि तु भगवती चिति ही चित्त संज्ञा को प्राप्त होती है। जब वह चिति अपने स्वरूप को छिपाकर सङ्कोच का अवलम्बन ग्रहण करती है तब उसकी दो प्रकार की गति होती है—कभी तो वह उल्लसित सङ्कोच को गौण करके चित्प्राधान्य को लेकर स्फुरित होती है और कभी सङ्कोच की प्रधानता से। स्वाभाविक चित्प्राधान्य पक्ष में प्रकाशमात्र प्रधान होने पर विज्ञानाकलरूपता विकसित होती है और प्रकाश एवं विमर्श दोनों की प्रधानता में विद्यातत्त्व में अवस्थित प्रमातृता प्राप्त होती है।

---

१. विकल्पमयः—'मनोमात्रजन्याः असाधारणार्थविषया विकल्पाः, (शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० २५) मनोमात्रजन्य अत एव असाधारण पदार्थरूप विषय विकल्प कहलाते हैं। ये विकल्प प्रचुररूप से जिसमें विद्यमान है उसको विकल्पमय कहते हैं। शिवता विकल्परहित है।

२. चित्प्राधान्यपक्षे सहजे—परमशिव, जब अनाश्रित शिव, शक्ति, सदाशिव ईश्वर, शुद्धविद्या, विज्ञानाकलप्रमातृता पर्यन्त चित्प्रधान अध्वा का आभासन करते हैं तब सृष्टि क्रम-जन्य चित्प्राधान्य सहज या स्वाभाविक होता है।

३. प्रकाशमात्रप्रधानत्वे—विमर्शरहित केवल प्रकाश की प्रधानता में विज्ञानाकलप्रमातृता निष्पन्न होती है। प्रकाश और परामर्श या विमर्श दोनों की प्रधानता में, शुद्धविद्या तत्त्व में स्थित मन्त्रप्रमातृता सिद्ध होती है। यह स्थिति पहली से उत्तम है।

तत्रापि क्रमेण सङ्कोचस्य तनुतायाम्, ईश-सदाशिवानाश्रित-रूपता। समाधिप्रयत्नोपार्जिते[1] तु चित्प्रधानत्वे शुद्धाध्वप्रमातृता[2] क्रमात्क्रमं प्रकर्षवती। सङ्कोचप्राधान्ये तु शून्यादिप्रमातृता। एवमवस्थिते सति, 'चितिरेव' सङ्कुचितग्राहकरूपा 'चेतनपदात् अवरूढा' अर्थग्रहणोन्मुखी सती 'चेत्येन' नील-सुखादिना 'सङ्कोचिनी' उभय-[3]सङ्कोचसङ्कुचितैव चित्तम्। तथा च

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः॥

इत्यादिना स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञान–क्रिया–मायाशक्ति-रूपा पशुदशायां सङ्कोचप्रकर्षात् सत्त्वरजस्तमःस्वभावचित्तात्मतया स्फुरति; इति श्रीप्रत्यभिज्ञायामुक्तम्[4]। अत एव श्रीतत्त्वगर्भस्तोत्रे विकल्प-दशायामपि तात्त्विकस्वरूपसद्भावात् तदनुसरणाभिप्रायेण उक्तम्—

'अत एव तु ये केचित् परमार्थानुसारिणः।
तेषां तत्र स्वरूपस्य स्वज्योतिष्ट्वं न लुप्यते॥' इति॥ ५॥

प्रकाश और विमर्श की प्रधानता में भी क्रमशः सङ्कोच के और क्षीण होने पर आत्मा को ईश्वर, सदाशिव और अनाश्रित शिवरूपता प्राप्त होती है। यदि चित्प्राधान्य समाधि बल से अर्जित हो तो शुद्धाध्वप्रमातृता क्रमशः प्रकृष्ट होती जाती है। यदि चित्संकोच की प्रधानता हुई तो शून्यप्रमातृता अर्थात् प्रलयाकलरूपता और सकलप्रमातृता का विकास होता है। इस प्रकार चिति ही संकुचित ग्राहकरूपता को धारण करके अर्थग्रहण की ओर उन्मुख होती हुई नील-सुख आदि चेत्यों—विषयों द्वारा उभयरूप सङ्कोच से संकुचित होकर

१. समाधिप्रयत्नोपार्जिते—चित्प्राधान्य दो प्रकार का होता है एक स्वाभाविक अर्थात् अनुलोम-क्रमाभास-सम्बन्धी और दूसरा समाधि द्वारा प्रतिलोमक्रम से अर्जित। प्रथम, परमशिव का आभास होने से स्वाभाविक या सहज है और द्वितीय, बद्ध आत्मा द्वारा, समाधि के बल से चित्संकोच का भेदन करके उपार्जित किया जाता है।

२. शुद्धाध्वप्रमातृता—शुद्धविद्या से लेकर अनाश्रित शिव पर्यन्त शुद्ध अध्वा है, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर आदि शुद्धाध्वप्रमाता कहे जाते हैं।

३. उभयसङ्कोच—१ चेतनपद से अवतरणरूप सङ्कोच (२) नील–सुखादिक को भिन्न मान कर उनके ग्रहण के लिए बहिर्मुखतात्मक सङ्कोच।

४. श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा–कारिका ३, आह्निक १, अधिकरण ४।

ही चित्त का रूप ग्रहण करती है। जैसा कि—'अपने अङ्गभूत सांसारिक पदार्थों के विषय में पति अर्थात् विश्वरूप परमेश्वर की जो ज्ञान, क्रिया और माया ये तीन शक्तियाँ हैं, वे ही पशुदशा में क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण, और तमोगुण के नाम से कही जाती हैं—इस उक्ति द्वारा—

स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्ति ही ज्ञान, क्रिया और मायारूप होकर, पशुदशा में संकोच के प्रकर्ष से सत्त्व, रजस् और तमस् स्वभाव वाले चित्त के रूप में स्फुरित होती है—ऐसा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में कहा गया है। इसीलिए 'तत्त्व-गर्भस्तोत्र' में, 'विकल्पदशा में भी तात्त्विक स्वरूप रहता है'—इस अभिप्राय से कहा गया है—

'अत एव जो लोग (संसार में) परम तत्त्व का अनुसन्धान करने वाले हैं उनके लिए जीवों के स्वरूप में वर्तमान शिव-ज्योति का लोप नहीं होता।'

चित्तमेव तु मायाप्रमातुः स्वरूपम्—इत्याह

## तन्मयो मायाप्रमाता[1] ॥ ६ ॥

देहप्राणपदं तावत् चित्तप्रधानमेव; शून्यभूमिरपि[2] चित्तसंस्कारवत्येव; अन्यथा ततो व्युत्थितस्य स्वकर्तव्यानुधावनाभावः स्यात्;—इति चित्त-

---

१. मायाप्रमाता—जीव, पशु, सकलप्रमाता।

२. शून्यभूमिः—शून्यभूमि का एक अर्थ प्रलयाकलावस्था है; द्वितीय शुद्ध संविन्मात्र परमार्थरूप प्रकाश ही शून्य है—समस्त संवेद्य भावों से रहित होने के कारण उसकी संज्ञा शून्य है—'शून्यत्वं चास्य सर्वस्य संवेद्यस्य संक्षयात् न तु संविदोऽपि' जयरथ। स्वच्छन्दतन्त्र ४। २९१। में कहा गया है—'अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते। अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः॥' सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः। सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः।'

अनाश्रित शिव भी शून्यप्रमाता है; सदाशिव बुद्धिप्रमाता, ईश्वर प्राण-प्रमाता तथा विद्या देहप्रमाता के नाम से कही जाती है।

अनाश्रितः शून्यमाता बुद्धिमाता सदाशिवः।
ईश्वरः प्राणमाता च विद्या देहप्रमातृता॥ ४३, ४४।

तन्त्रा० ६ आ०

प्रस्तुत प्रसङ्ग में जीवदशा के अन्तर्गत देह, प्राण और बुद्धि से व्यतिरिक्त शून्य, संविन्मात्र चेतन को कहते हैं।

मय एव मायीयः प्रमाता। अमुनैव आशयेन शिवसूत्रेषु[1] वस्तुवृत्तानुसारेण।

'चैतन्यमात्मा'[2] (१-१)

इत्यभिधाय मायाप्रमातृलक्षणावसरे पुनः

'चित्तमात्मा'[3] (३-१)

इत्युक्तम् ॥ ६ ॥

चित्त ही मायाप्रमाता का स्वरूप है—यह निर्देश करते हुए कहते हैं :—

मायाप्रमाता चित्तमय है ॥ ६ ॥

देह और प्राण चित्तप्रधान हैं, शून्यभूमि भी चित्त के संस्कार से युक्त रहती है अन्यथा प्रलयदशा से व्युत्थान होने पर स्वकर्तव्य के प्रति प्रवृत्ति ही सम्भव न हो सकेगी। अत एव मायाप्रमाता या सकलाख्य जीव चित्तमय ही है। इसी आशय से 'शिव सूत्रों' में तात्त्विक स्थिति का अनुसरण करते हुए 'चैतन्य ही आत्मा है' ऐसा कह कर मायाप्रमाता के स्वरूपनिर्णय के अवसर पर 'चित्त आत्मा है'—ऐसा कहा है।

अस्यैव सम्यक् स्वरूपज्ञानात् यतो मुक्तिः, असम्यक् तु संसारः, ततः तिलश एतत्स्वरूपं निर्भक्तुमाह—

---

१. शिवसूत्र—'श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा।
सिद्धादेशात् प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि ॥'

शिवसूत्रवार्तिक

प्राचीन काल में, सिद्ध के आदेश से वसुगुप्तगुरु के समक्ष, शिवसूत्र प्रकट हुए। (कदाचिच्च असौ) (महादेव-गिरिनिवासी महामाहेश्वरः श्रीमान् वसुगुप्तनामा गुरुः) द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि इत्याशयतः अनुजिघृक्षापरेण परमशिवेन स्वप्ने अनुगृह्य उन्मिषित-प्रतिभः कृतः यथा 'अत्र महीभृति महति शिलातले रहस्यमस्ति तत् अधिगम्य अनुग्रहयोग्येषु प्रकाशय' इति। प्रबुद्धश्चासौ···शिवसूत्रविमर्शिनी।

२. चैतन्यमात्मा—चेतयते इति चेतनः सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः, तस्य भावः चैतन्यं, सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यमुच्यते तच्च परमशिवस्यैव भगवतः अस्ति अनाश्रितान्तानां तत्परतन्त्रवृत्तित्वात्। —क्षेमराज

३. चित्तमात्मा—'आत्मा चित्तम्' यह शिवसूत्र की आनुपूर्वी है। 'यदेतत् विषयवासनाच्छुरितत्वात् नित्यं तदध्यवसायादिव्यापारबुद्ध्यहङ्कृन्मनोरूपं चित्तं, तदेव अतति चिदात्मकस्वरूपाख्यात्या सत्त्वादिवृत्त्यवलम्बनेन योनीः सञ्चरति, इति आत्मा अणुरित्यर्थः।—वही

स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः ॥ ७ ॥

निर्णीतदृशा चिदात्मा शिवभट्टारक एव 'एक' आत्मा, न तु अन्यः कश्चित् ; प्रकाशस्य देशकालादिभिः भेदायोगात् जडस्य तु ग्राहकत्वानुपपत्तेः । प्रकाश एव यतः स्वातन्त्र्यात् गृहीतप्राणादिसङ्कोचः सङ्कुचितार्थग्राहकतामश्नुते, ततः असौ प्रकाशरूपत्व-सङ्कोचावभासवत्त्वाभ्यां 'द्विरूपः ।' आणव[1]-मायीय[2]-कार्म[3]मलावृतत्वात् 'त्रिमयः'

क्योंकि इस आत्मा के सम्यक् स्वरूपज्ञान द्वारा मुक्ति होती है और असम्यक् ज्ञान से संसार की उपलब्धि; अतः इसके स्वरूप को तिलशः ( सम्पूर्ण रूप से ) विभक्त करने के लिए कहते हैं :—

---

१. आणव मल—अपने को अपूर्ण मानना अपूर्णंमन्यता अथवा पूर्णज्ञानात्मक स्वरूप का अज्ञान—सङ्कोच या अणुता ही आणव मल है। यह दो प्रकार का है १—चिन्मात्रबोध के स्वातन्त्र्य का सङ्कोच अर्थात् ज्ञातृत्व का अज्ञान । २—स्वातन्त्र्य या कर्तृत्व का अज्ञान ।

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥ ४ ॥
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा—आगमाधिकार ३, विमर्श २ ।

२. मायीय मल—स्वरूप के अज्ञान के अनन्तर सांसारिक पदार्थों को भिन्न-भिन्न समझना—भेदप्रथा ही मायीय मल है ।

भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं······ ।

३. कार्म मल—जन्म और भोग देने वाले शुभाशुभ कर्मों की पराधीनता कार्म मल कहा जाता है—ये तीनों प्रकार के मल मायाशक्ति द्वारा निर्मित होते हैं ।

················जन्म भोगदम् ।
कर्तर्यबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तत्त्रयम् ॥ ५ ॥—वही

अन्यत्र भी कहा है :—

गोपितस्वमहिम्नोऽस्य सम्मोहाद्विस्मृतात्मनः ।
यः सङ्कोचः स एवास्य आणवो मल उच्यते ॥
ततः षट्कञ्चुकव्याप्ति-विलोपित-निजस्थितेः ।
भूतदेहे स्थितिर्यासौ मायीयो मल उच्यते ॥
यदन्तःकरणाधीन-बुद्धिकर्मेन्द्रियादिभिः ।
बहिर्व्याप्रियते कार्मं मलमेतस्य तन्मतम् ॥

'वह आत्मा एक, दो रूपों वाला, त्रिमय, चतुरात्मक और पैंतीस तत्त्वस्वरूप, तथा प्रमातृसप्तक और शक्तिपञ्चक स्वभाव वाला है ॥ ७ ॥

जैसा कि पहले निर्णय किया जा चुका है उस दृष्टि से चिदात्मा शिवभट्टारक ही एक आत्मा है दूसरा कोई नहीं। प्रकाशरूप आत्मा देश और काल द्वारा विभक्त नहीं हो सकता और जड़ की तो ग्राहकता ही नहीं बन सकती। प्रकाश ही स्वातन्त्र्य से प्राणादि रूप में सङ्कुचित होकर सङ्कुचित अर्थग्राहकता को प्राप्त होता है, इससे यह आत्मा प्रकाशरूपत्व और सङ्कोचावभासत्व के कारण द्विरूप हो जाता है। आणव, मायीय और कार्ममलों से आवृत होने के कारण यही त्रिमय बनता है।

**शून्य[1]-प्राण-पुर्यष्टक[2] शरीरस्वभावत्वात् 'चतुरात्मा'। 'सप्तपञ्च-कानि'—शिवादिपृथिव्यन्तानि पञ्चत्रिंशत्तत्त्वानि 'तत्स्वभावः'।**

---

१. शून्य—द्रष्टव्य सूत्र ६ की टिप्पणी। 'संवित् तथा वस्तुओं का सङ्कोच सारात्मक नञर्थरूप शून्य कहा जाता है; सङ्कोच का अवभास ही मायाप्रमाता का व्युत्थान है। 'संविदो वस्तूनां च सङ्कोचनप्राणो नञर्थरूपोऽसौ शून्य इत्युच्यते, सङ्कोचावभास एव मायीयप्रमातुः उत्थानम्।' 'सुषुप्ते प्रलये 'न' इत्यभावसमाधौ च तावच्छून्यमाकाशकल्पमनात्मरूपं वेद्यभावोचितं 'अहं' इत्यात्मत्वेन वीक्ष्यते।'

—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी। आगमाधिकार वि० २ का० १३।

२. पुर्यष्टक—मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र यही पुर्यष्ट है ऐसा स्पन्दकारिका ४९ में कहा है—'तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिवर्तिना पुर्यष्टकेन संरुद्धः'''।' पुर्यष्टक २ प्रकार का देखा जाता है—

( १ ) सूक्ष्म—'हृदयान्तरसंवित्तिशून्यपुर्यष्टकात्मना'—योगिनीहृदय, श्लो० १५५ की दीपिका टीका में अमृतानन्दयोगी ने लिखा है—

'चितिश्चित्तं च चैतन्यं चेतना द्वयकर्म च।
जीवः कला च देवेशि सूक्ष्मपुर्यष्टकं मतम् ॥

इति स्वच्छन्द संग्रहोक्तरीत्या सूक्ष्मपुर्यष्टकानां सूक्ष्मतया दुर्लक्ष्यत्वात् शून्यमिति च'। बिन्दु की अवस्था में स्थित चेतना का नाम 'चित्' है। 'चिति' का दूसरा नाम व्यापिनी है। आन्तरिक एवं बाह्य क्रियाशीलता ही चित्त का स्वरूप है। बाहर से निवृत्त होकर अन्दर की ओर जाने वाले बोध का नाम चैतन्य है तथा उस बोध की धारणा चेतना है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का व्यापार, जीव तथा चन्द्र, सूर्य और अग्नि की कलायें—इनको चिदष्टक या सूक्ष्मपुर्यष्टक कहते हैं।

शून्य, प्राण, पुर्यष्टक और शरीरस्वभाव होने के कारण इसे चतुरात्मा कहते हैं। शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त पैंतीस तत्त्वात्मक ( शक्ति को शिव से अभिन्न मान कर ) होने के कारण यह सप्तपञ्चक स्वभाव वाला कहा जाता है।

**तथा शिवादि-सकलान्त-प्रमातृसप्तकस्वरूपः[1]; चिदानन्देच्छाज्ञान-क्रियाशक्तिरूपत्वेऽपि अख्यातिवशात् कला[2]-विद्या[3]-**

---

भास्करराय ने इसी श्लोक के 'सेन्तुबन्ध' में ( २ ) स्थूलपुर्यष्टक का उल्लेख किया है—'कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथा पराणि, बुद्धीन्द्रियाणि मन आदि चतुष्टयं च। प्राणादिपञ्चकमथो वियदादिकं च। कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमीयुः।'

तत्त्वप्रकाशिका में भोजदेव ने लिखा है—

'स्यात् पुर्यष्टकमन्तःकरणधीकर्मकरणानि।' इसकी वृत्ति में निम्नाङ्कित विवरण मिलता है—'तत्र पुर्यष्टकं नाम प्रतिपुरुषं नियतः सर्गादारभ्य कल्पान्तं मोक्षान्तं वावस्थितः पृथिव्यादिकलान्तत्रिंशत्तत्त्वात्मकोऽसाधारणरूपः सूक्ष्म-देहः।' अत्र अन्तःकरणशब्देन मनोबुद्ध्यहङ्कारवाचीन्यन्यान्यपि पुंसो भोग क्रियायामन्तरङ्गानि कलाकालनियतिविद्यारागप्रकृतिगुणाख्यानि सप्ततत्त्वान्यु-पलक्ष्यन्ते। धीकर्मशब्देन बुद्धेरध्यवसिततया ग्राह्याणि पृथिव्याद्याकाशान्तानि पञ्चभूतानि तत्कारणानि च शब्दादीनि पञ्चतन्मात्राणि, करणशब्देन बुद्धी-न्द्रियाणि। यत्तु—'शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः। बुद्धिर्मनस्त्व-हङ्कारः पुर्यष्टकमुदाहृतम्।' इति कालोत्तरे श्रूयते। तत्तु तत्रभवता रामकण्ठेन त्रिंशत्तत्त्वपरतया व्याख्यातम्। तथा हि—भूततन्मात्रबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तः-करणसंज्ञैः पञ्चभिर्वर्गैः तत्कारणेन गुणेन तदापूरकेण प्रधानेन कलादिपञ्चकञ्चु-कात्मना त्रिवर्गेणारब्धत्वात्।

१. प्रमातृसप्तक—( १ ) शिव ( २ ) सदाशिव ( ३ ) ईश्वर ( ४ ) शुद्ध-विद्या ( ५ ) विज्ञानाकल ( ६ ) प्रलयाकल ( ७ ) सकल।

२. कला—सर्वकर्तृत्वशक्ति, सङ्कुचित होकर, स्वल्पकर्तृत्वशक्ति बन कर जब आत्मा को परिमित कर देती है तब उसे 'कला' कहते हैं :—

सर्वकर्तृताशक्तिः सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम॥

—षट्त्रिंशत्तत्त्व सन्दोह।

३. विद्या—परमात्मा की सर्वज्ञताशक्ति, परिमित होकर—अल्पज्ञ बन कर जब पुरुष को किञ्चिज्ज्ञ बना देती है तो वह विद्या ( अविद्या ) के नाम से कही जाती है।

राग[1]–काल[2]–नियति[3] कञ्चुकवलितत्वात् पञ्चकस्वरूपः। एवंच शिवैक-रूपत्वेन, पञ्चत्रिंशत्तत्त्वमयत्वेन, प्रमातृसप्तकस्वभावत्वेन चिदादिशक्तिपञ्चकात्मकत्वेन अयं प्रत्यभिज्ञायमानो मुक्तिदः; अन्यथा तु संसार-हेतुः ॥ ७ ॥

इसके अतिरिक्त शिव से लेकर सकलपर्यन्त सप्तप्रमातास्वरूप और चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया-शक्ति-रूप होने पर भी अख्याति--अज्ञान के कारण कला, विद्या, राग, काल एवं नियतिरूप कञ्चुकयुक्त आत्मा, पञ्चकस्वभाव कहा जाता है। इस प्रकार शिवैकरूपत्व, पञ्चत्रिंशत्तत्त्वमयत्व, प्रमातृसप्तकस्वभावत्व और चित् आदि शक्तिपञ्चकात्मक रूप से परिचित आत्मा ही मुक्तिदाता है, अन्यथा वही संसारप्रद है।

एवं च—

## तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः ॥ ८ ॥

'सर्वेषां' चार्वाकादिदर्शनानां 'स्थितयः'—सिद्धान्ताः 'तस्य' एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छावगृहीताः कृत्रिमा 'भूमिकाः'। तथा च।

'चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा।' इति चार्वाकाः। नैयायिकादयो[4]

---

सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः॥

१. राग—नित्य, परिपूर्ण तृप्ति नामक शक्ति, परिमित होकर जब आत्मा को भोगों में अनुरक्त करती है तो उसे राग कहा जाता है—

नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिः तस्यैव परिमिता नु सती।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वमाख्याता॥

२. काल—परमेश्वर की नित्यता शक्ति, सङ्कुचित होकर जब आत्मा को जन्म-मरण प्रदान करती हुई अनित्य या परिच्छिन्न बना देती है तब उसे कालतत्त्व कहते हैं—

सा नित्यताऽस्य शक्तिर्निकृष्य निधनोदयप्रदानेन।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात् कालतत्त्वरूपेण॥

३. नियति—परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति, सङ्कुचित होकर आत्मा को कृत्य और अकृत्य में अवश बना कर जब उसका नियमन करती है तो वही नियति है।

याऽस्य स्वतन्त्रताख्या शक्तिः सङ्कोचशालिनी सैव।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः॥—तत्त्वसन्दोह।

४. नैयायिकादयः—न्याय और वैशेषिक।

ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ मन्यन्ते, अपवर्गे तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम्।

अहं-प्रतीतिप्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृतः आत्मा इति मन्वानाः मीमांसका[1] अपि बुद्धावेव निविष्टाः।

ज्ञानसन्तान[2] एव तत्त्वम्—इति सौगता बुद्धिवृत्तिषु एव पर्यवसिताः।

प्राण एव आत्मा-इति केचित् श्रुत्यन्तविदः।

असदेव इदमासीत्-इत्यभावब्रह्मवादिनः शून्यभुवमवगाह्य स्थिताः।

और इस प्रकार—सम्पूर्ण दर्शनों की स्थितियाँ ही उसकी भूमिकायें हैं ॥ ८ ॥

सभी चार्वाक आदि दर्शनों के सिद्धान्त इस आत्मा की नट के समान स्वेच्छा से गृहीत कृत्रिम भूमिकायें हैं; जैसा कि चार्वाक मतानुयायिकों का कहना है—

चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है। नैयायिक आदि दार्शनिक संसार दशा में, ज्ञानादि गुणगणों के आश्रय, बुद्धितत्त्व को ही आत्मा मानते हैं। अपवर्ग (मोक्ष) दशा में उक्त बुद्धितत्त्वात्मक आत्मा के उच्छिन्न हो जाने पर उसे शून्यप्राय समझना चाहिए।

जो 'अहं' प्रतीति द्वारा ज्ञेय तथा सुखदुःखादि उपाधियों द्वारा ढका हुआ है वही आत्मा है—ऐसा मानने वाले मीमांसक भी बुद्धितत्त्व में ही निविष्ट हैं।

ज्ञानसन्तान ही आत्मा है—ऐसा कहने वाले बौद्धों की, बुद्धिवृत्तियों तक ही पहुँच है।

---

१. मीमांसकाः—भट्टमतानुयायी मानते हैं कि आत्मा में चित् और अचित् दो अंश होते हैं। चिदंश से आत्मा ज्ञान का अनुभव करता है और अचिदंश से वह परिणाम को प्राप्त होता है। परिणामशील होने पर भी आत्मा नित्य पदार्थ है—

'चिदंशेन द्रष्टृत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन।
ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामित्वम्। स आत्मा 'अहं' प्रत्ययेनैव वेद्यः।

—काश्मीरिक सदानन्द

२. ज्ञानसन्तान—त्रिपिटकों के अनुसार आत्मा और जगत् अनित्य है। वहाँ बराबर परिणाम होता रहता है। जैसे जल-प्रवाह या दीप-शिखा में क्षण-क्षण में नया जल और नई लौ निकल निकल कर एक जैसी धारा या सन्तान का निर्माण करती रहती है वैसे ही ज्ञानधारा ही आत्मा है। विज्ञानवादी योगाचार मत आत्मा को विज्ञान का परिणाम मानकर आत्मत्व और धर्मत्व को उपचरित मानता है।

प्राण ही आत्मा है—ऐसा कुछ वेदान्तियों का मत है।

यह ( पहले ) असत् ही था—ऐसा स्वीकार करने वाले अभाव ब्रह्मवादी, शून्य भूमि का अवगाहन करके स्थित हैं।

माध्यमिका[1] अपि एवमेव।

पराप्रकृतिः भगवान् वासुदेवः तद्विस्फुलिङ्गप्राया एव जीवाः—इति पाञ्चरात्राः[2] परस्याः प्रकृतेः परिणामाभ्युपगमात् अव्यक्ते एव अभिनिविष्टाः।

साङ्ख्यादयस्तु[3] विज्ञानाकलप्रायां भूमिम् अवलम्बन्ते। सदेव इदमग्र आसीत्—इति ईश्वरतत्त्वपदमाश्रिता अपरे श्रुत्यन्तविदः।

शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपम् आत्मतत्त्वम्—इति वैयाकरणाः[4] श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः। एवमन्यदपि अनुमन्तव्यम्। एतच्च आगमेषु।

'बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेवार्हताः स्थिताः।
स्थिता वेदविदः पुंसि अव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः॥'

इत्यादिना निरूपितम्।

माध्यमिक बौद्ध भी इसी स्थिति में हैं।

---

१. माध्यमिकाः—नागार्जुन द्वारा प्रचारित शून्यवाद को मानने वाले। 'अतो भावाभावान्तद्वयरहितत्वात् सर्वस्वभावानुत्पत्तिलक्षणा शून्यता मध्यमा प्रतिपद् मध्यमो मार्ग उच्यते—प्रसन्नपदा—चन्द्रकीर्ति।

२. पाञ्चरात्राः—भागवत या सात्वत सम्प्रदाय के अनुयायी। परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा संसार ( विषय ) इन पाँच विषयों के निरूपण करने से इसका नाम पाञ्चरात्र है—'रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्'।

नारदपाञ्चरात्र १।४४।

३. सांख्यादयः—सांख्य और योगदर्शन के अनुयायी। ये लोग कैवल्य को मोक्ष मानते हैं।

४. वैयाकरणाः—अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः॥ १॥
इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम्।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्॥ २॥

शिव दृष्टि आ० २।

वैयाकरणों का दार्शनिक ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' है, जिसमें पश्यन्ती को शब्दब्रह्म या चरमतत्त्व माना गया है। भर्तृहरि, अपनी स्वोपज्ञ टीका में पश्यन्ती के दो भेद करते हैं—१. परपश्यन्ती, २. अपरपश्यन्ती।

पराप्रकृति ही भगवान् वासुदेव हैं और समस्त जीव उसी के अंश हैं—यह पाञ्चरात्र मत है। ये लोग पराप्रकृति के परिणाम को स्वीकार करते हैं अतः वे अव्यक्त में ही अभिनिविष्ट हैं।

सांख्य और योग के अनुयायी विज्ञानाकलों की भूमि का आश्रय लेते हैं।

पहले यह सत् ही था—ऐसा मानने वाले कुछ अन्य वेदान्ती लोग ईश्वरतत्त्व के पद का आश्रय ग्रहण करते हैं। शब्दब्रह्ममय पश्यन्तीरूप आत्मा मानने वाले वैयाकरण, सदाशिव-पद में स्थित हैं। इसी प्रकार और भी अनुमान कर लेना चाहिए। आगमों में इसी बात का—

'बौद्ध लोग बुद्धितत्त्व में स्थित हैं और जैन गुणों में ही; वेदवेत्ता पुरुषतत्त्व में और पाञ्चरात्रमतानुयायी अव्यक्त तक ही पहुँचते हैं।'—इस प्रकार निरूपण किया गया है।

विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वम्—इति तान्त्रिकाः।
विश्वमयम्—इति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः।[1]
विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च—इति त्रिकादिदर्शनविदः।[2] एवं एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिताः सर्वा इमा भूमिकाः स्वातन्त्र्य-प्रच्छादनोन्मीलनतारतम्यभेदिताः; अत एक एव एतावद्व्याप्तिक आत्मा। मितदृष्टयस्तु अंशांशिकासु तदिच्छयैव अभिमानं ग्राहिताः, येन देहादिषु भूमिषु पूर्वपूर्वप्रमातृव्याप्तिसारताप्रथायामपि[3] उक्तरूपां

---

१. कुलाद्याम्नाय—भगवान् शङ्कर के पाँच मुखों से निर्गत आगमों के पाँच आम्नाय हैं। ऊर्ध्वाम्नाय ही कुलाम्नाय कहा जाता है।

चतुराम्नायविज्ञानादूर्ध्वाम्नायः परं प्रिये ॥ १६ ॥

× × × ×

ऊर्ध्वत्वात् सर्वधर्माणामूर्ध्वाम्नायः प्रशस्यते ॥१७॥ कुलार्णवतन्त्र ३।

'आदि' शब्द से पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय और दक्षिणाम्नाय समझना चाहिए।

२. त्रिकादिदर्शनविदः—'नर-शक्ति-शिवात्मकं त्रिकं' यही त्रिक है। प्रत्यभिज्ञा त्रिकदर्शन है इसे षडर्धशासन भी कहते हैं। आदि शब्द से त्रिपुरा या महार्थ दर्शन गृहीत है।

३. पूर्वपूर्वप्रमातृ—देहप्रमाता, बुद्धिप्रमाता, प्राणप्रमाता, शून्यप्रमाता, विज्ञानकेवली, मन्त्र, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर—इनमें देहप्रमाता सबसे निचली श्रेणी में है उससे पूर्व बुद्धि आदि प्रमाता हैं। इन पूर्व पूर्व प्रमाताओं में आत्मा की व्याप्ति या चिद्विकास बढ़ता जाता है किन्तु परप्रमाता परमशिव

महाव्याप्तिं परशक्तिपातं विना न लभन्ते। यथोक्तम्।

'वैष्णवाद्यास्तु ये केचिद्विद्यारागेण रञ्जिताः।
न विदन्ति परं देवं सर्वज्ञं ज्ञानशालिनम्॥' इति।

तथा आत्म-तत्त्व विश्वोत्तीर्ण है—ऐसा तन्त्रमतानुयायी मानते हैं।

वह विश्वमय है—ऐसा कुलादि आम्नायविदों का विश्वास है।

आत्मा विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय है—यह त्रिक आदि दर्शनवेत्ताओं द्वारा स्वीकृत है।

इस प्रकार एक ही चिदात्मा भगवान् के स्वातन्त्र्य से ये सभी भूमिकायें अवभासित हैं। इनमें पारस्परिक भेद, स्वातन्त्र्यशक्ति के प्रच्छादन और उन्मीलन के तारतम्य द्वारा घटित होता है अतः इन सभी भूमिकाओं में व्याप्त एक ही आत्मा है। परिमित दृष्टि वाले लोग अंश और अंशांश रूप आत्मा की उन-उन भूमिकाओं में, आत्मा की इच्छा से ही अभिमति रखते हैं। जिससे देहादि भूमियों में पूर्व पूर्व प्रमाताओं की व्याप्तिसारता के प्रस्तुत होने पर भी परशक्तिपात के बिना उक्त महाव्याप्ति को उपलब्ध नहीं कर पाते। जैसा कि कहा है—'विद्या तथा रागतत्त्व से रञ्जित होने के कारण जो कोई वैष्णवादिक हैं वे सर्वज्ञ, ज्ञानशाली परदेवता को नहीं जानते। और—

'भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया।' इति।[२]
'त आत्मोपासकाः शैवं न गच्छन्ति परं पदम्।' इति च[३]

---

की सी महाव्याप्ति—शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त प्रकाशमयी प्रथा परशक्तिपात के विना सम्भव नहीं।

१. परशक्तिपात—शक्तिपात या अनुग्रह दो प्रकार का होता है (१) पर और (२) अपर। परशक्तिपात, परिच्छिन्न आत्मा का पूर्ण चिद्रूप में प्रकाशित होना है। इसे पूर्ण अनुग्रह भी कह सकते हैं। इस प्रकार का अनुग्रह परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। अपर शक्तिपात में आत्मा के चिद्रूप में प्रकाशित होने पर भी भोगांश तथा अधिकारांश से कुछ अवच्छेद रहता है। यह अपूर्ण कृपा है। ब्रह्मादि देवगण भी ऐसी कृपा कर सकते हैं।

२. इसका पूर्वांश इस प्रकार है :—

'गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः।
असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः।
भ्रमयत्येव तान्...................॥ ११४॥

—स्वच्छन्दतन्त्र पटल १०।

३. श्लोक का पूर्वांश—

दीक्षाज्ञानाद्विना ज्ञेयमात्मानं चैव निर्मलम्॥ २९॥

अपि च 'सर्वेषां दर्शनानां'—समस्तानां नीलसुखादिज्ञानानां याः 'स्थितयः' अन्तर्मुखरूपा विश्रान्तयः ताः 'तद्भूमिकाः' चिदानन्दघनस्वात्मस्वरूपाभिव्यक्त्युपायाः। तथा हि यदा यदा बहिर्मुखरूपं स्वरूपे विश्राम्यति, तदा तदा बाह्यवस्तूपसंहारः, अन्तःप्रशान्तपदावस्थितिः; तत्तदुदेष्यत्संवित्संतत्यासूत्रणम्;—इति सृष्टिस्थितिसंहारमेलनारूपा इयं तुरीया संविद् भट्टारिका तत्तत्सृष्ट्यादिभेदान् उद्वमन्ती संहरन्ती च, सदा पूर्णा च, कृशा च, उभयरूपा च अनुभयात्मा च, अक्रममेव स्फुरन्ती स्थिता।

मोक्ष की लिप्सा से, माया उनको अमोक्षदायक तत्त्वों में ही भटकाती रहती है'। 'उस प्रकार के वे आत्मोपासक, शिव के परम पद को नहीं प्राप्त कर पाते'।

अथवा 'सम्पूर्ण दर्शनों' अर्थात् सभी नील-सुख आदि ज्ञानों की जो 'स्थितियाँ' या अन्तर्मुखरूप विश्रान्तियाँ हैं वे चिदानन्दघन स्वात्मा के स्वरूप के अभिव्यक्ति की भूमिकायें या उपाय हैं। क्योंकि जब जब बहिर्मुख रूप, स्वरूप में विश्रान्त होता है तब तब बाह्य वस्तु का उपसंहार होता है, और आन्तरिक प्रशान्त पद में स्थिति होती है तथा उन उन उदय होने वाली ज्ञान-धाराओं का सूत्र निर्मित होता है। इस प्रकार सृष्टि-स्थिति और संहार की समष्टिरूप यह चौथी संविद् भट्टारिका, तत्तत् सृष्टि भेदों का विकास और संहार करती हुई सदा पूर्णरूप, कृशात्मक, उभयरूप एवं अनुभयात्मक ढंग से अक्रमरूप में स्फुरित होती हुई स्थित है।

उक्तं च श्रीप्रत्यभिज्ञाटीकायाम्।

'तावदर्थावलेहेन उत्तिष्ठति पूर्णा च भवति।' इति।

एषा च भट्टारिका क्रमाक्रमं अधिकमनुशीलयमाना स्वात्मसात्करोत्येव भक्तजनम् ॥ ८ ॥

यदि एवंभूतस्य आत्मनो विभूतिः, तत् कथमयं मलावृतः अणुः कलादिवलितः संसारी अभिधीयते ? इत्याह—

## चिद्वत्तच्छक्तिसङ्कोचात् मलावृतः संसारी ॥ ९ ॥

यदा 'चिदात्मा' परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्ज्य भेदव्याप्तिम् अवलम्बते, तदा 'तदीया इच्छादिशक्तयः' असङ्कुचिता अपि सङ्कोचवत्यो भान्ति; तदानीमेव च अयं 'मलावृतः' संसारी भवति। तथा च अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः सङ्कुचिता सती

ये वदन्ति न चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम्।
न आत्मोपासकाः........................ ॥ ३० ॥

—नेत्रतन्त्र, अधिकार ८।

**अपूर्णम्मन्यतारूपम् आणवं मलम्; ज्ञानशक्तिः क्रमेण सङ्कोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाप्तेः अन्तःकरणबुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वं अत्यन्तं सङ्कोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्।**

जैसा कि प्रत्यभिज्ञा टीका में कहा है—

'तब वह विषयों का ग्रास करती हुई उठती है और पूर्णरूप ग्रहण करती है।'

इस परा भट्टारिका का यदि क्रमशः अधिक अधिक अनुशीलन किया जाय तो भक्त जनों को निश्चय ही अपने से अभिन्न बना लेती है।

यदि तथाभुत आत्मा की ऐसी विभूति है तो यह कैसे मलों से आवृत, अणु तथा कला आदि से युक्त होकर संसारी कहा जाता है?—इस पर कहते हैं—

'चिद्विभु शक्ति संकोच के कारण मलों से आवृत होकर संसारी बन जाता है' ॥९॥

जब चिदात्मा परमेश्वर, अपने स्वातन्त्र्य से अभेदव्याप्ति को सङ्कुचित करके भेदव्याप्ति का अवलम्बन ग्रहण करते हैं तब उनकी इच्छादिक शक्तियाँ, असङ्कुचित होने पर भी सङ्कुचित प्रतीत होती हैं तभी यह मलों से आवृत होकर संसारी हो जाता है। और अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूप इच्छाशक्ति, सङ्कुचित होकर अपूर्णमन्यतात्मक आणव मल के नाम से कही जाती है। जब ज्ञानशक्ति क्रमशः सङ्कुचित होकर, भेददशा में, सर्वज्ञता से अल्पज्ञत्व को प्राप्त करती है और अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियता की प्राप्तिपूर्वक अत्यन्त सङ्कोच को ग्रहण करती है तब उसको, देह आदि भिन्न भिन्न वेद्यों का विकासरूप मायीय मल कहते हैं।

**क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूपसङ्कोचग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम्। तथा सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्तयः सङ्कोचं गृह्णाना यथाक्रमं कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भान्ति। तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते; स्वशक्तिविकासे तु शिव एव ॥ ९ ॥**

**ननु संसार्यवस्थायाम् अस्य किञ्चित् शिवतोचितम् अभिज्ञानमस्ति येन शिव एव तथावस्थितः?—इत्युद्घोष्यते। अस्ति इत्याह—**

**तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति ॥ १० ॥**

**इह ईश्वराद्वयदर्शनस्य ब्रह्मवादिभ्यः अयमेव विशेषः, यत्**

**सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्।**
**अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्॥**

**इति श्रीमत्स्वच्छन्दादिशासनोक्तनीत्या सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं चिदात्मनो भगवतः। यथा च भगवान् शुद्धेतराध्वस्फारणक्रमेण**

१. विलयः—विशिष्टप्रत्यवायफलं विलयम्—स्वच्छन्दोद्योत।

स्वरूपविकासरूपाणि सृष्ट्यादीनि करोति, 'तथा' सङ्कुचितचिच्छक्तितया संसारभूमिकायामपि 'पञ्चकृत्यानि' विधत्ते।

भेद दशा में क्रमशः जब क्रियाशक्ति की सर्वकर्तृता शक्ति, अल्पकर्तृत्व को प्राप्त होती है तथा कर्मेन्द्रियरूप सङ्कोच को ग्रहण करके अत्यन्त परिमित हो जाती है तब उसे ही शुभ और अशुभ कर्ममय कार्म मल कहा जाता है। और सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ जब सङ्कुचित होकर क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियति रूप से भासित होती हैं, तब इस प्रकार का आत्मा शक्तियों से दरिद्र होकर संसारी कहा जाता है, अपनी शक्ति की विकास दशा में तो वह शिव ही है ॥ ९ ॥

क्या संसारी अवस्था में आत्मा की शिवत्व के अनुरूप कोई पहचान रहती है जिससे यह घोषणा की जाती है कि इसमें शिव ही अपने स्वरूप से अवस्थित है ? है—इसे सिद्ध करने के लिए कहते हैं—

'संसारी दशा में भी आत्मा शिव के सदृश पञ्चकृत्य करता है' ॥ १० ॥

यहाँ ईश्वराद्वयदर्शन का ब्रह्मवादियों से यही वैशिष्ट्य है कि—'सृष्टि, स्थिति संहार, निग्रह, अनुग्रह और प्रणत जनों के कष्टों को दूर करने वाले' ( भैरव को मुदित देखकर देवी ने प्रश्न किया )।

इस स्वच्छन्दतन्त्रोक्त नीति के अनुसार चिदात्मा भगवान् में सदा पञ्चविध-कृत्यकारिता विद्यमान रहती है। जैसे भगवान् अशुद्ध अध्वा के विकासक्रम से स्वरूप विकासात्मक सृष्ट्यादि की रचना करते हैं वैसे ही चित् शक्ति के सङ्कुचित होने पर संसार-भूमिका में भी पञ्चकृत्य करते हैं।

तथा हि—

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः ॥'[1]

इति प्रत्यभिज्ञाकारकोक्तार्थदृष्ट्या देहप्राणादिपदम् आविशन् चिद्रूपो महेश्वरो बहिर्मुखीभावावसरे नीलादिकमर्थं नियतदेशकालादितया यदा आभासयति, तदा नियतदेशकालाद्याभासांशे अस्य स्रष्टृता; अन्यदेश-कालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता; नीलाद्याभासांशे स्थापकता; भेदेन आभासांशे विलयकारिता; प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुगृहीतृता। यथा च सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं भगवतः, तथा मया वितत्य स्पन्दसन्दोहे निर्णीतम्।

1. द्रष्टव्य—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ज्ञानाधिकार, आह्निक ६ कारिका ७। पृ० ३३१।

एवमिदं पञ्चविधकृत्यकारित्वम् आत्मीयं सदा दृढप्रतिपत्त्या परिशील्यमानं माहेश्वर्यं उन्मीलयत्येव भक्तिभाजाम्। अत एव ये सदा एतत्परिशीलयन्ति, ते स्वरूपविकासमयं विश्वं जानाना जीवन्मुक्ता-इत्याम्नाताः। ये तु न तथा, ते सर्वतो विभिन्नं मेयजातं पश्यन्तो बद्धात्मानः ॥ १० ॥

जैसे—

( 'देहे बुद्धौ' आदि पूर्वकारिका में जैसा दिखाया गया है उसकी उपपत्ति इस प्रकार सम्भव है )—'यदि व्यवहार में प्रभु अर्थात् प्रकाश—परमार्थ, माया शक्तिरूप इच्छा से, देह-प्राण आदि के प्राधान्य से अपने स्वरूप को दिखाते हुए, अन्दर संविन्मात्र में 'अहं' इत्याकारक भावराशि को इच्छा से ही 'इदं' रूप से प्रकाशित करे।'

इस प्रत्यभिज्ञा कारिका में उक्त अर्थ की दृष्टि से देह-प्राणादि पद में प्रविष्ट होते हुए, चिदात्मा महेश्वर, बहिर्मुख होने की दशा में जब नील आदि वस्तु को नियत देश एवं काल में प्रकाशित करते हैं तब नियत देश और नियत काल में वस्तु का आभास ही आत्मा की सृष्टि है। नियत देश-काल से भिन्न अन्य आभासांश ही संहार, ( पूर्वोक्त ) नीलाद्याभासांश में स्थापकता, वस्तुओं का ऐक्य भाव से प्रकाशन ही अनुग्रह है। इसके अतिरिक्त भगवान् के सतत पञ्चविध कृत्यकारित्व का विस्तार से मैंने 'स्पन्दसन्दोह' में निर्णय किया है।

इस प्रकार आत्मा सम्बन्धी पञ्चविधकृत्यकारिता का यदि सदा दृढ़ता के साथ परिशीलन किया जाय तो निश्चय ही भक्तों के समक्ष वह महेश्वर के स्वरूप को उन्मीलित कर देता है। अत एव जो लोग सदा इसका परिशीलन करते रहते हैं वे स्वरूपविकासात्मक विश्व को जानते हुए जीवन्मुक्त कहे गये हैं। और जो वैसे नहीं हैं, वे सम्पूर्ण भाव-राशि को भिन्न-भिन्न रूप में देखते हुए बद्धात्मा ही हैं ॥ १० ॥

न च अयमेव प्रकारः पञ्चविधकृत्यकारित्वे, यावत् अन्योऽपि कश्चित् रहस्यरूपोऽस्ति।—इत्याह

**आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन-विलापनतस्तानि ॥११॥**

'पञ्चविधकृत्यानि करोति'—इति पूर्वतः सम्बध्यते। श्रीमन्महार्थ-दृष्ट्या दृगादिदेवीप्रसरणक्रमेण यत् यत् आभाति, तत् तत् सृज्यते;

१. दृगादिदेवी—महानय, कालीनय, महार्थसम्प्रदाय अथवा क्रमदर्शन में बुद्धीन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय मन तथा बुद्धि इन बारह करणों की बारह देवियाँ मानी गई हैं :—

तथा सृष्टे पदे तत्र यदा प्रशान्तनिमेषं कञ्चित् कालं रज्यति, तदा स्थिति देव्या तत् स्थाप्यते; चमत्कारापरपर्यायविमर्शनसमये तु संह्रियते। यथोक्तं श्रीरामेण।

'समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः॥' इति।

यदा तु संह्रियमाणमपि एतत् अन्तः विचित्राशङ्कादिसंस्कारम् आधत्ते, तदा तत् पुनः उद्भविष्यत्संसारबीजभावमापन्नं विलयपदं अध्यारोपितम्।

केवल यही प्रकार पञ्चविधकृत्य के सम्बन्ध में नहीं है अन्य रहस्यात्मक विधि भी है—यह निर्देश करते हुए कहते हैं—

'आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन, और विलापन भेद से वे पाँच हैं' ॥ ११ ॥

पञ्चविध कृत्य करता है'—यह वाक्य पूर्व सूत्र से लेकर यहाँ सम्बद्ध किया जाता है। श्रीमन्महार्थमञ्जरी की दृष्टि से दृक् आदि देवियों के विकासक्रम से जो जो आभासित होता है उसी की रचना की जाती है। और रचित पदार्थ में

---

'कर्मबुद्ध्यक्षवर्गो हि बुद्ध्यन्तो द्वादशात्मकः प्रकाशकत्वात् सूर्यात्मा भिन्ने वस्तुनि जृम्भते।—तन्त्रा० ४ आ० श्लो० १६०।

इन १२ देवियों के ३ वर्ग हैं—(१) प्रमेय (२) प्रमाण (३) प्रमाता। इन तीनों में प्रमेयगत—सृष्टिकाली, स्थितिकाली, स्थितिनाशकाली तथा यमकाली—ये ४ देवियाँ हैं। प्रमाणगत—संहारकाली, मृत्युकाली, भद्र-(रुद्र) काली, तथा मार्तण्डकाली—ये ४ देवियाँ हैं। प्रमातृगत—परमार्ककाली, कालानलरुद्रकाली, महाकालकाली, महाभैरवचण्डोग्र घोरकाली। (द्रष्टव्य तन्त्रा आ० ४, पृ० १५८–१९१)

अन्त में जयरथ ने लिखा है–समनन्तरोक्तस्य—दृगादिदेवीद्वादशकात्मनः चक्रस्य—(द्र० तन्त्रा० आ० ५, पृ० ३३८) दृग्देवी—सृष्टिकाली।

इसके अतिरिक्त महार्थमञ्जरी (महेश्वरानन्दकृत) की निम्नाङ्कित ४२ वीं गाथा तथा उसकी विवृति द्रष्टव्य है :—

पीठे नव कलाः पञ्चैव पञ्चवाहपदव्याम्।
सप्तदश भालनेत्रे, द्वादश षोडश चान्यनेत्रयोः॥

'तत्र भालनेत्रं स्वातन्त्र्यशक्तिः, दक्षिणनेत्रं प्रमाणशक्तिः, वामनेत्रं प्रमेयशक्तिः। —(परात्रिंशिका टि०, पृ० २०६)

जब स्थिर रूप से कुछ काल तक अनुरक्ति होती है तो स्थिति देवी के द्वारा उसकी स्थापना की जाती है। चमत्कार ही जिसका पर्याय है ऐसे विमर्शन के समय उसका संहार किया जाता है। जैसा श्रीराम ने कहा है :—

'जो भेदरूपी पर्वत दूसरे लोगों ( योगियों ) के लिए समाधिरूपी वज्र से भी अभेद्य था वही तुम्हारी भक्ति के बल से सम्पन्न जनों द्वारा एकात्म अनुभव से नष्ट कर दिया गया।'

उपसंहृत होता हुआ यह पदार्थ, जब हृदय में विचित्र आशङ्कादि संस्कारमयता को धारण करता है, तब वह उदय होने वाले संसार के बीज भाव को प्राप्त होकर विलयपदवी को उपलब्ध करता है।

यदा पुनः तत् तथा अन्तः स्थापितम् अन्यत् वा अनुभूयमानमेव हठपाकक्रमेण[1] अलंग्रासयुक्त्या[2] चिदग्निसाद्भावम् आपद्यते, तदा पूर्णतापादनेन अनुगृह्यते एव। ईदृशं च पञ्चविधकृत्यकारित्वं सर्वस्य सदा सन्निहितमपि सद्गुरूपदेशं विना न प्रकाशते, इति सद्गुरुसपर्यैव एतत् प्रथार्थम् अनुसर्तव्या ॥ ११ ॥

यस्य पुनः सद्गुरुपदेशं विना एतत्परिज्ञानं नास्ति, तस्य अवच्छादितस्वस्वरूपाभिः निजाभिः शक्तिभिः व्यामोहितत्वं भवति। इत्याह—

१. हठपाकक्रमेण—तीव्र शक्तिपात द्वारा क्रम का उल्लङ्घन करके सकृत् उपदेशात्मक बलात्कार से जो पाक-चित् रूपी अग्नि के साथ एकात्मभाव—घटित होता है उसे हठपाक कहते हैं। हठपाक की परिपाटी हठपाकक्रम है :—'हठेन क्रमव्यतिक्रमरूपेण सकृदुपदेशात्मना बलात्कारेण यः पाकः चिदग्निसात्कारः तस्य क्रमः परिपाटी ! द्रष्टव्य भूमिका।

२. अलंग्रासयुक्त्या—अलं अर्थात् सर्वात्मरूप से सृष्टि आदि उपाधियों का ग्रास-स्वात्मसात्कार ही अलंग्रास है :—

प्रशमश्च द्विधा शान्त्या हठपाकक्रमेण तु ॥ २६० ॥
अलंग्रासरसात्येन सततं ज्वलनात्मना। तन्त्रालोक, आह्निक ३।

शान्त्येति शान्तेन मधुरपाकक्रमेण गुर्वाद्याराधनपूर्वं समययादिदीक्षासाधनेन तत्तन्नित्यनैमित्तिकाद्यनुष्ठाननिष्ठतया देहान्ते सृष्ट्याद्युपाधीनां अत्ययो भवेत् इत्यर्थः। तथाऽलम् अत्यर्थं सार्वात्म्येन, यः सृष्ट्यादीनां ग्रासः स्वात्मसात्कारः तत्र रसो गृध्नुता तत्त्वेनालं ग्रासभैरवादी आख्या यस्य, अत एव सततमविच्छिन्नतया ज्वलन् यथायथं दाह्यनिष्ठतया दीप्यमान आत्मा स्वरूपं यस्य एवं विधेन हठेन।—जयरथ

**तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम् ॥ १२ ॥**

और जब वही संस्काररूप से हृदय में स्थापित अथवा दूसरे रूप में अनुभूयमान अर्थ हठपाकक्रमात्मक अलंग्रासयुक्ति द्वारा चिदग्निभाव को प्राप्त होता है तभी पूर्णत्व को प्राप्त होने के कारण अनुगृहीत कहा जाता है। इस प्रकार की पञ्चविध कृत्यकारिता सब के निकट वर्तमान रहती है किन्तु सद्गुरु के उपदेश के विना प्रकाशित नहीं होती। अतः इसके प्रकाश के लिए गुरु-पूजा का ही अनुसरण करना चाहिए।

जिसे सद्गुरु के उपदेश के विना इसका ज्ञान नहीं हो सका, उसको आच्छादित स्वस्वरूप वाली अपनी उन शक्तियों द्वारा किया गया व्यामोह उसमें बना रहता है—इसी आशय से कहते हैं:—

'उसके अपरिज्ञान की दशा में अपनी शक्तियों द्वारा उत्पन्न किया गया व्यामोह ही संसारित्व है' ॥ १२ ॥

**तस्य एतस्य सदा सम्भवतः पञ्चविधकृत्यकारित्वस्य 'अपरिज्ञाने' शक्तिपातहेतुकस्वबलोन्मीलनाभावात् अप्रकाशने 'स्वाभिः शक्तिभिः व्यामोहितत्वं' विविधलौकिकशास्त्रीयशङ्काशङ्कुकीलितत्वं यत्, इदमेव संसारित्वम्। तदुक्तं श्रीसर्ववीरभट्टारके।**

**'अज्ञानाच्छङ्कते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ॥' इति।**

**'मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः ॥' इति च।**

**तथा हि चित्प्रकाशात् अव्यतिरिक्ता नित्योदितमहामन्त्ररूपा पूर्णाहंविमर्शमयी या इय परावाक्शक्तिः आदिक्षान्तरूपाशेषशक्तिचक्रगर्भिणी, सा तावत् पश्यन्तीमध्यमादिक्रमेण ग्राहकभूमिकां भासयति।**

सदा घटित होने वाला पञ्चविधकृत्यकारित्व जब शक्तिपातरूप निमित्त से जन्य स्वसामर्थ्य के उन्मीलित न होने पर अप्रकाशित रहता है तब अपनी शक्तियों से उत्पन्न जो व्यामोह अर्थात् अनेक प्रकार की लौकिक और शास्त्रीय शङ्काओं के कीलों से वेध है वही संसारित्व है। जैसा कि श्रीसर्ववीरभट्टारक नामक ग्रन्थ में कहा गया है :—

'अज्ञान से ही व्यक्ति को सन्देह होता है और उसी से सृष्टि और संहार का क्रम चलता है।' और—

'सारे मन्त्र वर्णात्मक हैं तथा समग्र वर्ण शिवस्वरूप।' इत्यादि।

चित्प्रकाश से अभिन्न, नित्य उदित महामन्त्ररूप, पूर्ण 'अहं' विमर्शात्मक जो यह परावाक्[1] शक्ति है, जिसके गर्भ में 'अ' से लेकर 'क्ष' तक (वर्णात्मक)

---

१. परावाक्—प्रत्यवमर्शात्मक—अमायीय-वर्ण-जनित अन्तर शब्दन स्वभाव, चिति को नित्य उदित परावाक् कहते है, यही परमात्मा की स्वातन्त्र्य

समग्र शक्तिचक्र विद्यमान रहता है, वही पश्यन्ती और मध्यमा के क्रम से ग्राहक-भूमिका को आभासित करती है।

तत्र च परारूपत्वेन स्वरूपं अप्रथयन्ती मायाप्रमातुः अस्फुटासाधारणार्थावभासरूपां प्रतिक्षणं नवनवां विकल्पक्रियामुल्लासयति, शुद्धामपि च अविकल्पभूमिं तदाच्छादितामेव दर्शयति । तत्र च ब्राह्म्यादिदेवताधिष्ठितककारादिविचित्रशक्तिभिः व्यामोहितो देहप्राणादि-

शक्ति और मुख्य ऐश्वर्य है। पूर्ण होने से इसे परा तथा प्रत्यवमर्श द्वारा विश्व का अभिलाप करने से इसे वाक् कहा जाता है :—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥ १३ ॥

ई० प्र० कारिका, अ० १ आ० ५

'पूर्णत्वात् परा, वक्ति विश्वं अभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक् ।'

ई० प्र० वि० पृ० २५३

१. पश्यन्ती—परावाक् के अनन्तर वाच्यवाचकात्मक विश्व-विकास की द्वितीय कोटि। यह पश्यन्ती वाक् अपने में समस्त विश्व को देखती है तथा अन्तः और बाह्य करणों के मार्ग से उत्तीर्ण है इसीलिए इसे पश्यन्ती और उत्तीर्ण कहते हैं।

पश्यति सर्वं स्वात्मनि करणानां सरणिमपि यदुत्तीर्णा ।
तेनेयं पश्यन्तीत्युत्तीर्णेत्यप्युदीर्यते माता ॥

सौभाग्यसुधोदय से उद्धृत सौभाग्यभास्कर पृ० १००।

२. मध्यमावाक्—पश्यन्तीव न केवलमुत्तीर्णा नापि वैखरीव बहिः ।
स्फुटतरनिखिलावयवा वाग्रूपा मध्यमा तयोरस्मात् ॥ वही

विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य—'मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य'

३. ब्राह्म्यादिदेवता—वर्णों के आठ वर्ग हैं, प्रत्येक वर्ग की आठ ही अधिष्ठात्री देवियाँ है :—

| अधिष्ठातृ देवता | वर्ग |
|---|---|
| १. ब्राह्मी | कवर्ग |
| २. माहेश्वरी | चवर्ग |
| ३. कौमारी | टवर्ग |
| ४. वैष्णवी | तवर्ग |
| ५. वाराही | पवर्ग |
| ६. ऐन्द्री | यवर्ग |
| ७. चामुण्डा | शवर्ग |
| ८. महालक्ष्मी | अवर्ग |

मेव परिमितं अवशम् आत्मानं मन्यते मूढजनः। ब्राह्म्यादिदेव्यः पशुदशायां भेदविषये सृष्टिस्थिती, अभेदविषये च संहारं प्रथयन्त्यः, परिमितविकल्पपात्रतामेव सम्पादयन्ति, पतिदशायां तु भेदे संहारम्, अभेदे च सर्गस्थिती प्रकटयन्त्यः, क्रमात्क्रमं विकल्पनिर्ह्रासनेन श्रीमद्भै-[1]रवमुद्रानुप्रवेशमयीं महतीं अविकल्पभूमिमेव उन्मीलयन्ति।

और वहाँ अपने परात्मक स्वरूप को प्रकाशित न करती हुई मायाप्रमाता—पशु की, अस्फुट और असाधारण अर्थों के आभास से युक्त, प्रतिक्षण अभिनव, विकल्पक्रिया को उन्मिषित करती है, और शुद्ध अविकल्पात्मक भूमि को विकल्प से आच्छादित रूप में ही प्रदर्शित करती है। उस स्थिति में ब्राह्मी आदि देवताओं से अधिष्ठित ककारादि विचित्र शक्तियों द्वारा व्यामूढ़ होकर, परिमित और परतन्त्र देह-प्राण आदि को ही, मूढ़ व्यक्ति आत्मा मानने लगता है। ब्राह्मी आदि देवियाँ भी पशुदशा में भेदविषयक सृष्टि और स्थिति तथा अभेदविषय के संहार को प्रथित करती हुई, सङ्कुचित विकल्पयोग्यता का ही सम्पादन करती हैं। पतिदशा में भेदविषय के संहार एवं अभेदविषय की सृष्टि और स्थिति को प्रकट करती हुई क्रमशः विकल्प को क्षीण करके श्रीमद्भैरवमुद्रा में पुनः प्रवेशरूप महान् अविकल्पभूमि का उन्मीलन करती हैं।

सर्वो[2] ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता॥

इत्यादिरूपां चिदानन्दावेशमग्नां शुद्धविकल्प[3]शक्तिम् उल्लासयन्ति। ततः उक्तनीत्या स्वशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम्।

किञ्च चितिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च[4] वामेश्व-

---

१. श्रीमद्भैरवमुद्रा—अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा वै भैरवी मुद्रा सद्यस्तत्पददायिनी॥

विज्ञानभैरव विवृति, पृ० २५

निमेष और उन्मेष से रहित दृष्टि के बहिर्मुख होते हुए भी लक्ष्य अन्तरात्मा की ओर रहे तो इसे भैरवी मुद्रा कहते हैं—यह मुद्रा शीघ्र भैरवपद प्रदान करती है।

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका १२, अधिकार ४, विमर्श ३।

३. शुद्धविकल्पशक्ति—'सर्वो ममायं विभवः'—इस प्रकार का विकल्प शुद्ध विकल्प है।

४. संसारवामाचारत्वात्—भेद और अभेदमय किन्तु भेदसार जगत् को उत्पन्न करना तथा भेदाभेदमय संसार को अभेदसार बनाना ही संसार-

योख्या सती, खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीरूपैः अशेषैः प्रमातृ-अन्तः-करण-बहिष्करण-भावस्वभावैः परिस्फुरन्ती, पशुभूमिकायां शून्यपद[2]-विश्रान्ता किञ्चित्कर्तृत्वाद्यात्मक-कलादिशक्त्यात्मना खेचरीचक्रेण, गोपितपारमार्थिकचिद्गगनचरीत्वस्वरूपेण चकास्ति; भेदनिश्चयाभिमान-विकल्पनप्रधानान्तःकरणदेवीरूपेण गोचरीचक्रेण गोपिताभेदनिश्चयाद्यात्मकपारमार्थिकस्वरूपेण प्रकाशते।

'यह सम्पूर्ण ग्राह्य-ग्राहकरूप विकल्पात्मक संसार मेरा ही स्वातन्त्र्य लक्षण-स्वरूप है; जो ऐसा जानता है उस विश्वात्मा व्यक्ति में विकल्पों के विस्तार की दशा में भी महेश्वरता अक्षुण्ण रहती है।'

इस प्रकार की चिदानन्दस्वरूप में निमग्न, शुद्ध विकल्प शक्ति को उल्लसित करती है। इससे सिद्ध है कि उपर्युक्त रीति से अपनी शक्तियों से उत्पन्न व्यामोह ही संसारित्व है।

इसके अतिरिक्त भगवती चितिशक्ति ही विश्व का वमन-बहिःप्रकाशन करने के कारण अथवा संसाररूप वाम—विपरीत आचरण करने से वामेश्वरी का रूप ग्रहण करती हुई, खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, तथा भूचरीरूप प्रमाता, अन्तः-करण, बाह्यकरण और वस्तुस्वभाव रूप में स्फुरित होती है। पशुभूमिका में शून्यपद को ग्रहण करके पारमार्थिक चिद्गगनचरी का स्वरूप छिपाकर, किञ्चित्कर्तृत्वादिरूप कलादि शक्त्यात्मक खेचरी चक्र-रूप में प्रकाशित होती है। अभेदनिश्चयादिरूप पारमार्थिक स्वरूप को छिपाकर, भेदनिश्चय, भेदाभिमान,

---

वामाचार है :—'यत्र वमन्ति विश्वं भेदाभेदमयं भेदसारं च, गृणन्ति उच्चैर्गिरन्ति च भेदसारं, भेदाभेदमयं च अभेदसारं आपादयन्ति इति संसारवामाचाराः'—

—स्पन्दसन्दोह, पृ० २०।

१. खेचरी आदि (१) खे बोधगगने चरन्ति इति खेचर्यः। (२) शून्य-प्रमातृभूमिचारिण्यः काल-कला-विद्या-राग-नियतिमयतया बन्धयित्र्यः। गौः वाक् तदुपलक्षितासु सञ्जल्पमयीषु बुद्ध्यहङ्कारमनोभूमिषु चरन्ति इति गोचर्यः। दिक्षु च दशसु बाह्येन्द्रियभूमिषु चरन्ति इति दिक्चर्यः। भूः रूपादिपञ्चकं मेयपदं तत्र चरन्ति।—वही।

२. शून्यपद—जीवात्मा—'आत्मा शून्य इह ज्ञेयः शिवधर्मैर्विना कृतः।
शिवः शून्योऽधिगन्तव्यो विमलोऽमूर्तविग्रहः॥'

तन्त्रालो० टी०. आ० २, पृ० ३९।

शिवधर्मों से रहित जीवात्मा, संसार में शून्य के नाम से जाना जाता है। विमल और अमूर्त—मलों तथा मूर्तियों से रहित, शिव को भी शून्य समझना चाहिए।

तथा भेदकल्पना ही जिसमें प्रधान है ऐसे अन्तःकरणों की देवीरूप गोचरीचक्र के रूप में प्रकाशित होती है।

भेदालोचनादिप्रधानबहिष्करणदेवतात्मना च दिक्चरीचक्रेण गोपिताभेदप्रथात्मकपारमार्थिकस्वरूपेण स्फुरति; सर्वतो व्यवच्छिन्नाभासस्वभावप्रमेयात्मना च भूचरीचक्रेण गोपितसार्वात्म्यस्वरूपेण पशुहृदयव्यामोहिना भाति। पतिभूमिकायां तु सर्वकर्तृत्वादिशक्त्यात्मकचिद्गगनचरीत्वेन, अभेदनिश्चयाद्यात्मना गोचरीत्वेन, अभेदालोचनाद्यात्मना दिक्चरीत्वेन, स्वाङ्गकल्पाद्वयप्रथासारप्रमेयात्मना च भूचरीत्वेन पतिहृदयविकासिना स्फुरति। तथा च उक्तं सहजचमत्कारपरिजनिताकृतकादरेण भट्टदामोदरेण विमुक्तकेषु—

पूर्णावच्छिन्नमात्रन्तर्बहिष्करणभावगाः।
वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात् स्युर्मुक्तिबन्धदाः॥ इति

एवं च निजशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम्।

अभेदप्रथात्मक पारमार्थिक रूप जिसमें आवृत है तथा भेद का आलोचन आदि जिसमें प्रधान है ऐसी बाह्य करणों की देवी स्वरूप दिक्चरी-चक्र के रूप में भी वही चिति उदित होती है; तथा सर्वात्मरूप को छिपाकर, भेदाभास-स्वभाव, प्रमेयरूप भूचरी-चक्र के रूप में पशु हृदयों को मूढ बनाती हुई शोभित होती है।

पतिभूमिका में तो सर्वकर्तृत्वादि-शक्ति-रूप चिद्गगनचरी, अभेदनिश्चयादि-रूप गोचरी, अभेदालोचनाद्यात्मक दिक्चरी और निजाङ्गस्वरूप अद्वैत-प्रथा-सारभूत प्रमेयात्मक भूचरी रूप से, पति-हृदय को विकसित करती हुई स्फुरित होती है।

सहज चमत्कार से जनित अकृत्रिम ऐश्वर्यशाली भट्ट दामोदर ने मुक्तक स्तुतियों में भी कहा है :—

'पूर्णप्रमाता, परिमितप्रमाता तथा उसके अन्तःकरण, बाह्यकरण एवं प्रमेयगत वामेश्वरी आदि शक्तियाँ ज्ञात होने पर मुक्ति देने वाली और अज्ञात होने पर बन्धप्रद बन जाती हैं।'

इस प्रकार निज शक्तियों से जनित व्यामोहितता ही संसारित्व है।

अपि च चिदात्मनः परमेश्वरस्य स्वा अनपायिनी एकैव स्फुरत्तासारकर्तृतात्मा ऐश्वर्यशक्तिः। सा यदा स्वरूपं गोपयित्वा पाशवे पदे प्राणापान-समानशक्तिदशाभिः जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तभूमिभिः देह-प्राण-पुर्यष्टककलाभिश्च व्यामोहयति; तदा तद्व्यामोहितता संसारित्वम्; यदा तु मध्यधामोल्लासाम् उदानशक्तिं, विश्वव्याप्तिसारां च व्यानशक्तिं, तुर्यदशारूपां तुर्यातीतदशारूपां च चिदानन्दघनाम् उन्मीलयति, तदा देहाद्यवस्थायामपि पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिर्भवति। एवं त्रिधा स्वशक्ति-

व्यामोहितता व्याख्याता। 'चिद्वत्' इति (९) सूत्रे चित्प्रकाशो गृहीतसङ्कोचः संसारी इत्युक्तम्, इह तु स्वशक्तिव्यामोहितत्वेन अस्य संसारित्वं भवति—इति भङ्ग्यन्तरेण उक्तम्। एवं सङ्कुचितशक्तिः प्राणादिमानपि यदा स्वशक्तिव्यामोहितो न भवति तदा अयम्—

इसके अतिरिक्त चिदात्मा परमेश्वर की अविनाशी, तथा स्पन्दन जिसमें सार है ऐसी कर्तृता रूप एक ही निजी ऐश्वर्यशक्ति है। वह शक्ति जब अपने स्वरूप को छिपाकर पशुदशा में प्राण, अपान तथा समान शक्ति की दशाओं, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति भूमियों, देह, प्राण एवं पुर्यष्टकात्मक कलाओं द्वारा व्यामोहित करती है, तब उसी से जनित व्यामोहितता संसारित्व के नाम से कही जाती है।

और जब (वह ऐश्वर्य शक्ति) मध्यधाम अर्थात् सुषुम्ना-पथ के उल्लास रूप उदानशक्ति एवं विश्व-व्याप्ति-सारभूत व्यानशक्ति को, जिसे क्रमशः आनन्दघनरूप तुर्यदशा[1] और चिद्घनरूप तुर्यातीत[2] दशा कहा जाता है, उन्मीलित करती है तब देहादि अवस्था में भी पति दशात्मक जीवन्मुक्ति उपलब्ध होती है। इस प्रकार तीन विधियों से 'स्वशक्तिव्यामोहितता' की व्याख्या की गई। 'चिद्वत्' इस (नव सङ्ख्यक) सूत्र में चित्प्रकाश जब सङ्कोच ग्रहण करता है तब संसारी बनता है यह कहा गया, और यहाँ 'स्वशक्तिव्यामोहितत्व' द्वारा आत्मा के संसारित्व की बात कही गई है—यह भङ्ग्यन्तर से सूचित हुआ। इस प्रकार (आत्मा) संकुचित-शक्तिवाला प्राणादिमान् होकर भी जब स्वशक्तियों द्वारा व्यामोहित नहीं होता तब यह—

'...............शरीरी परमेश्वरः।'

इत्याम्नायस्थित्या शिवभट्टारक एव—इति भङ्ग्या निरूपितं भवति। यदागमः—

'मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः।'

इति। उक्तं च प्रत्यभिज्ञाटीकायाम्—

'शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं शिवरूपतां पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति।' इति॥ १२॥

उक्तसूत्रार्थप्रातिपद्येण तत्त्वदृष्टिं दर्शयितुमाह—

---

१. 'एषणीयपूर्णतया तन्निवृत्त्याप्यानन्दशक्तिप्रधानं तुर्यम्।'
—तन्त्रालोक, आ० १०, श्लो० २८५ की टीका।

२. निरानन्दतया सर्वसर्वात्मकपरिपूर्णस्वरूपविश्रान्तेः चिच्छक्तिप्रधानं तुर्यातीतम्।—वही।

**तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः ॥ १३ ॥**

पूर्वसूत्रव्याख्याप्रसङ्गेन प्रमेयदृष्ट्या वितत्य व्याख्यातप्रायमेतत् सूत्रम्; शब्दसङ्गत्या तु अधुना व्याख्यायते। 'तस्य' आत्मीयस्य पञ्चकृत्यकारित्वस्य 'परिज्ञाने' सति अपरिज्ञानलक्षणकारणापगमात् स्वशक्तिव्यामोहितता-निवृत्तौ स्वातन्त्र्यलाभात् प्राक् व्याख्यातं यत् 'चित्तं' तदेव सङ्कोचिनीं बहिर्मुखतां जहत् अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात्— ग्राहकभूमिकाक्रमणक्रमेण सङ्कोचकलाया अपि विगलनेन स्वरूपापत्त्या 'चितिर्' भवति; स्वां चिन्मयीं परां भूमिमाविशति इत्यर्थः ॥ १३ ॥

'............शरीर युक्त परमेश्वर ही है।'

इस आम्नाय के अनुसार शिवभट्टारक ही है—ऐसा भङ्गिमा द्वारा निरूपित होता है। यह बात आगम से भी समर्थित है—

'मनुष्य देह धारण करके परमेश्वर ने ही अपने को भिन्न भिन्न रूपों में आवृत कर रक्खा है।'

प्रत्यभिज्ञा टीका में भी कहा है :—

जो लोग छत्तीस तत्त्वमय शरीर को अथवा घटादि को भी शिवस्वरूप देखते हैं वे भी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं ॥ १२ ॥

उक्त सूत्रार्थ की विरोधिनी तत्त्वदृष्टि को प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं—

'उसके पूर्णतया ज्ञात होने पर चित्त ही, अन्तर्मुखी दशा में चेतन पद पर आरूढ़ होकर चिति का रूप ग्रहण करता है ॥ १३ ॥'

पिछले सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में प्रमेय दृष्टि से विस्तार के साथ इस सूत्र की प्रायः व्याख्या कर दी गई है; अब शब्द सङ्गति की दृष्टि से व्याख्या की जाती है। उस आत्मीय पञ्चविध-कृत्य-कारित्व के ज्ञान हो जाने पर तथा अज्ञानात्मक कारण के हट जाने से अपनी शक्तियों से होने वाला व्यामोह निवृत्त हो जाता है। उस समय स्वातन्त्र्य के उपलब्ध हो जाने पर पूर्व व्याख्यात चित्त, सङ्कोचात्मक बहिर्मुखता को त्याग देता है तथा अन्तर्मुख होकर चेतन पद में आरूढ़ होने से—अर्थात् मन्त्र-मन्त्रेशादि ग्राहक भूमिकाओं को क्रमशः उल्लङ्घन करता हुआ सङ्कोच-कला के विगलित हो जाने पर स्वरूप का लाभ करके चिति का रूप ग्रहण करता है। अर्थात् अपनी चिन्मय परावस्था में प्रविष्ट हो जाता है ॥ १३ ॥

ननु यदि पारमार्थिकं चिच्छक्तिपदं सकलभेदकवलनस्वभावं,

अस्य मायापदेऽपि तथारूपेण भवितव्यं यथा जलदाच्छादितस्यापि भानोः भावावभासकत्वम्। इत्याशङ्कयाह—

**चितिवह्निरवरोहपदे छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति ॥१४॥**

चितिरेव विश्वग्रसनशीलत्वात् 'वह्निः' असौ एव 'अवरोहपदे' मायाप्रमातृतायां छन्नोऽपि स्वातन्त्र्यात् आच्छादितस्वभावोऽपि, भूरिभूतिच्छन्नाग्निवत् 'मात्रया'—अंशेन, नीलपीतादिप्रमेयेन्धनं 'प्लुष्यति'—स्वात्मसात् करोति। मात्रापदस्य इदं आकूतम्—यत् कवलयन् अपि सार्वात्म्येन न ग्रसते, अपि तु अंशेन संस्कारात्मना[1] उत्थापयति। ग्रासकत्वं च सर्वप्रमातॄणां स्वानुभवत एव सिद्धम्। यदुक्तं श्रीमदुत्पलदेवपादैः निजस्तोत्रेषु।

'वर्तन्ते[2] जन्तवोऽशेषा अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णवः।
ग्रसमानास्ततो वन्दे देव विश्वं भवन्मयम्।।' इति ।। १४ ।।

'यदि पारमार्थिक चित्शक्ति-पद सम्पूर्ण भेदों को ग्रास करने के स्वभाव वाला है तो मायिक दशा में भी उसे अपना स्वभाव नहीं छोड़ना चाहिए जैसे सूर्य, मेघाच्छादित होने पर भी पदार्थों को अवभासित करता है—इस शङ्का पर कहते हैं—

मायिक दशा में, आवृत रहने पर भी चिदग्नि, अंशतः प्रमेय रूपी इन्धन को दग्ध कर देती है' ॥ १४ ॥

चिति ही संसार का ग्रास कर लेने के कारण अग्नि कही जाती है। यही अवरोह पद या जीव दशा में, अधिक राख से ढकी अग्नि के सदृश, आच्छादित होने पर भी स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा अंशतः नील-पीत आदि पदार्थों के इन्धन को आत्मसात् कर लेती है। 'मात्रा' शब्द का यह अभिप्राय है—ग्रास करने पर भी पूर्ण रूप से नहीं निगळ जाती किन्तु संस्कार रूप से उत्थापित करती है। और ग्रासकता सभी जीवों में अपने अनुभव से सिद्ध है। जैसा कि उत्पलाचार्य ने अपने स्तोत्रों में कहा है—'ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि सभी प्राणी, प्रमेयों का ग्रास करते हुए विद्यमान हैं अतः हे देव, भवद्रूप इस विश्व की मैं वन्दना करता हूँ।'

---

१. संस्कारात्मना—जीव, समस्त पदार्थों को अनुभव द्वारा आत्मसात् करता है। ये पदार्थ संस्कार रूप से उसके चित्त में वर्तमान रहते हैं और पुनः सहकारी कारण को प्राप्त करके स्मृति रूप में उठ खड़े होते हैं।

२. शिवस्तोत्रावली २० श्लोक १७।

यदा पुनः करणेश्वरीप्रसरसङ्कोचं[1] सम्पाद्य सर्गसंहारक्रम-परिशीलन-युक्तिम् आविशति तदा ।

बललाभे विश्वमात्मसात् करोति ॥ १५ ॥

चितिरेव देहप्राणाद्याच्छादननिमज्जनेन स्वरूपं उन्मग्नत्वेन स्फारयन्ती बलम्; यथोक्तं—

'तदाक्रम्य[2] बलं मन्त्राः·········' । इति ।

एवं च 'बललाभे' उन्मग्नस्वरूपाश्रयणे, क्षित्यादिसदाशिवान्तं 'विश्वम् आत्मसात् करोति' स्वस्वरूपाभेदेन निर्भासयति । तदुक्तं पूर्वगुरुभिः स्वभाषामयेषु क्रमसूत्रेषु ।

'यथा वह्निरुद्बोधितो दाह्यं दहति तथा विषयपाशान् भक्षयेत् ।' इति ।

'न चैवं वक्तव्यम्,—विश्वात्मसात्काररूपा समावेशभूः कादाचित्की, कथम् उपादेया इयं स्यात् इति; यतो देहाद्युन्मज्जननिमज्जनवशेन इदं अस्याः कादाचित्कत्वम् इव आभाति । वस्तुतस्तु चितिस्वातन्त्र्यावभासितदेहाद्युन्मज्जनात् एव कादाचित्कत्वम् । एषा तु सदैव प्रकाशमाना; अन्यथा तत् देहादि अपि न प्रकाशेत । अत एव देहादिप्रमातृताभिमाननिमज्जनाय अभ्यासः, न तु सदा प्रथमानतासारप्रमातृताप्राप्त्यर्थम् ।' इति श्रीप्रत्यभिज्ञाकाराः ॥ १५ ॥

जब पुनः आत्मा, करणेश्वरी—अन्तः एवं बाह्य करणों की अधिष्ठात्री गोचरी आदि देवियों के भेदात्मक प्रसार को सङ्कुचित करके पूर्वोक्त सृष्टि एवं संहार के

---

१. करणेश्वरीप्रसरसङ्कोचम्—सूत्र १२ में कहा गया है कि भगवतीचिति, चिद्गगनचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी शक्तियों के रूप में स्फुरित होती हुई अपने पारमार्थिक स्वरूप को छिपाकर किञ्चित्कर्तृत्व, भेदनिश्चय, भेदालोचन, आदि एवं भेदाभासरूप प्रमेयात्मकता को ग्रहण करती है । भेदालोचन, भेद निश्चय आदि ही करणवर्ग का प्रसार है । पदार्थ को देखना उसकी सृष्टि कुछ काल तक उसमें रमण करना स्थिति और तदनन्तर 'इसको मैं जान रहा हूँ' ऐसा स्वात्मरूप में विमर्शन संहार है । ज्ञानपूर्वक यह प्रक्रिया ही सङ्कोच है ।

२. सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्' ॥ १ ॥

—स्पन्दकारिका, २ निष्यन्द ।

परिशीलन योग को प्राप्त करता है तब—'बल की प्राप्ति के अनन्तर संसार को स्वरूपाभिन्न बना लेता है' ॥ १५ ॥

चिति ही, देह-प्राण आदि आवरणों को निमज्जित करके स्वरूप को उन्मिषित करती हुई बल के नाम से कही जाती है। जैसा कि कहा है—

'चित् रूप बल को अधिष्ठित करके मन्त्र' ( सर्वज्ञत्व आदि बल से अपने अधिकार में प्रवृत्त होते हैं )।

इस प्रकार बल-प्राप्ति अर्थात् उदित स्वरूप का आश्रय ग्रहण करने पर योगी पृथ्वी से लेकर सदाशिव पर्यन्त विश्व को आत्मसात् कर लेता है—अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में प्रकाशित करता है। जैसा कि स्वभाषामय क्रमसूत्रों में पूर्वगुरु ने कहा है :—

'जिस प्रकार अग्नि उद्बोधित होकर जलाने योग्य को जलाती है वैसे ही विषयरूपी पाशों को आत्मसात् करना चाहिए।'

'विश्व को आत्मसात् करने वाली समावेश-समाधि भूमि शाश्वत नहीं है, अतः यह कैसे उपादेय हो सकती है—यह कहना उचित नहीं; क्योंकि देहादि के उदय और लय के कारण समावेश दशा अचिरस्थायी सी प्रतीत होती है। वास्तव में तो चित् शक्ति के स्वातन्त्र्य से अवभासित देहादि के उन्मज्जन-उदय से ही अनित्यता प्रतीत होती है। यह चिति तो सदा प्रकाशित रहने वाली है, अन्यथा देहादि का प्रकाशन ही असम्भव हो जायगा। इसी लिए देहादि के प्रमातृत्व का अभिमान दूर करने के लिए अभ्यास किया जाता है, व्यापक प्रमातृता की प्राप्ति के लिए नहीं, यह प्रत्यभिज्ञाकार का मत है।

एवं च—

## चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः ॥ १६ ॥

विश्वात्मसात्कारात्मनि समावेशरूपे 'चिदानन्दे लब्धे' व्युत्थानदशायां दलकल्पतया देहप्राणनीलसुखादिषु आभासमानेषु, अपि, यत्समावेशसंस्कारबलात् प्रतिपादयिष्यमाणमुक्तिक्रमोपबृंहितात् 'चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यम्'—अविचला चिदेकत्वप्रथा, सैव जीवन्मुक्तिः—जीवतः प्राणानपि धारयतो मुक्तिः; प्रत्यभिज्ञातनिजस्वरूपविद्रावितशेषपाशराशित्वात्। यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे—

'[1]इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः' ॥ इति ॥ १६ ॥

---

१. स्पन्दकारिका, निष्यन्द २, कारिका ५।

इस प्रकार—'चिदानन्द की प्राप्ति के पश्चात् देहादिक के अनुभूत होने पर भी, चित् शक्ति के साथ एकात्मता प्रतिपत्ति की दृढता जीवन्मुक्ति है' ॥ १६ ॥

विश्व के साथ अभिन्नता रूप समावेशात्मक[1] चिदानन्द के उपलब्ध होने पर व्युत्थानदशा में केंचुल या कोष के सदृश देह-प्राण-नील तथा सुखादिकों के आभासित रहने पर भी जिस अभेदापत्ति के संस्कारबल से तथा अग्रिम ग्रन्थ में प्रतिपादित की जाने वाली युक्ति के क्रम से उद्दीप्त अविचल चिदैक्य, प्रथित होता है, वही जीवन्मुक्ति है;—अर्थात् प्राणों को धारण करते हुए मुक्ति है, क्योंकि उस दशा में अपने स्वरूप की पहिचान हो जाने पर समस्त पाश राशि कट जाती हैं। जैसा कि स्पन्दशास्त्र में कहा है :—

समग्र जगत् मेरा ही स्वरूप है—इस प्रथा का जिसको ज्ञान है वह, सारे जगत् को खेल के समान देखता हुआ सतत योग युक्त होने से जीवन्मुक्त है इसमें सन्देह नहीं।

अथ कथं चिदानन्दलाभो भवति ?—इत्याह

**मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः ॥ १७ ॥**

सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् तद्भित्तिलग्नतां विना च कस्यचिदपि स्वरूपानुपपत्तेः संविदेव भगवती 'मध्यम्'। सा तु मायादशायां तथा भूतापि स्वरूपं गूहयित्वा

'प्राक्[2] संवित् प्राणे परिणता।'

इति नीत्या प्राणशक्तिभूमिं स्वीकृत्य, अवरोहक्रमेण बुद्धिदेहादिभुवम् अधिशयाना, नाडीसहस्रसरणिम् अनुसृता। तत्र च पलाशपर्ण[3]-

१. द्रष्टव्य—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी पृ० २५८।

२. तत्त्वार्थचिन्तामणि से उद्धृत।

३. पलाशपर्ण—पलाश के पत्ते के बीच एक मध्यशाखा होती है उसी का आश्रय लेकर अनेक तन्तु पत्ते भर में फैल जाते हैं। उसी प्रकार सुषुम्ना नाडी का आश्रय लेकर अन्य नाडियां शरीर भर में फैली रहती हैं।

'नाभ्यधो मेढ्रकन्दे च स्थिता वै नाभिमध्यतः।
तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये ॥
चक्रवत्संस्थितास्तत्र प्रधाना दश नाडयः।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः ॥
पुनर्विनिर्गताश्चान्या आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः।
यावत्यो रोमकोट्यस्तु तावत्यो नाडयः स्मृताः ॥
यथा पर्णं पलाशस्य व्याप्तं सर्वत्र तन्तुभिः।

—स्वच्छन्दतन्त्र ७। ११।

मध्यशाखान्यायेन आब्रह्मरन्ध्रात् अधोवक्त्रपर्यन्तं प्राणशक्तिब्रह्माश्रय-मध्यमनाडीरूपतया प्राधान्येन स्थिता; तत एव सर्ववृत्तीनाम् उदयात्, तत्रैव च विश्रामात् ।'

चिदानन्द लाभ कैसे होता है ?—इस पर कहते हैं :—

'मध्य के विकास से चिदानन्द का लाभ होता है' ॥ १७ ॥

सब के अन्तरतम रूप से वर्तमान होने के कारण तथा उसका आधार लिए बिना कोई भी वस्तु अपना रूप नहीं ग्रहण कर सकती, इस लिए भगवती संवित् को ही 'मध्य' के नाम से कहा जाता है। वह माया दशा में स्वरूप से वर्तमान रहने पर भी अपने रूप को छिपाकर—

'पहले संवित् शक्ति प्राण के रूप में परिणत होती है ।' इस नीति के अनुसार प्राण शक्ति की भूमिका को स्वीकार करती है। पश्चात् अवरोह-क्रम से बुद्धि-देहादि भूमियों को ग्रहण करती हुई हजारों नाडियों के मार्ग का अनुसरण करती है। और वहाँ पलाशपर्ण मध्यशाखान्याय से ब्रह्म रन्ध्र से लेकर मूलाधार पर्यन्त उदान नामक प्राण-शक्तिरूप ब्रह्म की आश्रयभूत सुषुम्ना नाडी के रूप में प्रधानतया स्थित रहती है। क्योंकि वहीं से सम्पूर्ण वृत्तियों का उदय होता है और वहीं लय।

एवम्भूतापि एषा पशूनां निमीलितस्वरूपैव स्थिता। यदा तु उक्त-युक्तिक्रमेण सर्वान्तरतमत्वे मध्यभूता संविद्भगवती विकसति, यदि वा वक्ष्यमाणक्रमेण मध्यभूता ब्रह्मनाडी विकसति, तदा 'तद्विकासात् चिदानन्दस्य' उक्तरूपस्य 'लाभः' प्राप्तिर्भवति। ततश्च प्रागुक्ता जीवन्मुक्तिः ॥ १७ ॥

मध्यविकासे युक्तिमाह—

**विकल्पक्षय-शक्तिसङ्कोचविकास-वाहच्छेदाद्यन्तकोटिनिभालनादय इहोपायाः ॥ १८ ॥**

---

३. अधोवक्त्र—'अधोवक्त्रं त्विदं द्वैतकलङ्कैकान्तशातनम् ।'

तन्त्रा०, आ० ६ के श्लो० ९३ की टीका में जयरथ ने लिखा है—

'अधोवक्त्रं षष्ठस्रोतोरूपं योगिनीवक्त्रमुच्यते ।'

४. प्राणशक्तिब्रह्म०—उदान को ही मध्य नाडीस्थ प्राणब्रह्म कहते हैं :—

'मध्यमप्राणे सुषुम्नास्थोदानाख्यप्राणब्रह्मणि ।'

—नेत्रतन्त्रदी० अधिकार ७ पृ० १५३

१. ब्रह्मनाडी—मेरुदण्ड के अन्तर्गत सुषुम्ना नाडी तथा सुषुम्ना के अन्तर्गत वज्रा, वज्रा के अन्तर्गत चित्रिणी और चित्रिणी के अन्तर्गत ब्रह्मनाडी स्थित रहती है ।

'इह' मध्यशक्तिविकासे 'विकल्पक्षयादय उपायाः'। प्रागुपदिष्टपञ्चविधकृत्यकारित्वाद्यनुसरणेन सर्वमध्यभूतायाः संविदो विकासो जायते—इति अभिहितप्रायम्।

इस प्रकार की भी यह शक्ति, पशुओं में प्रच्छन्न रूप ही रहती है। जब उक्त योगक्रम से सर्वान्तरतम मध्यभूत भगवती संवित् विकसित होती है अथवा आगे कहे जाने वाले क्रम से मध्यभूत ब्रह्मनाडी विकास को प्राप्त होती है तब उसके विकास से उक्तरूप चिदानन्द की प्राप्ति होती है और उसी से पूर्वोक्त जीवन्मुक्ति भी सम्भव होती है॥ १७॥

'मध्य के विकास में युक्ति का निर्देश करते हैं—विकल्पक्षय, शक्तिसङ्कोच और विकास, वाहच्छेद, आदि और अन्त कोटि का परिशीलन आदि इस विषय में उपाय हैं'॥ १८॥

यहाँ अर्थात् मध्यशक्ति के विकास में विकल्पक्षय आदि उपाय हैं। पहले कहे गये पञ्चकृत्यों के अनुसरण से समस्त वस्तुओं और प्राणियों की मध्यभूत संवित् शक्ति का विकास होता है—यह प्रायः कह दिया गया है।

उपायान्तरं अपि तु उच्यते;—प्राणायाम–मुद्रा[1]बन्धा[2]दिसमस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनेन सुखोपायमेव, हृदये निहितचित्तः, उक्तयुक्त्या स्वस्थितिप्रतिबन्धकं विकल्पम् अकिञ्चिच्चिन्तकत्वेन प्रशमयन्, अविकल्पपरामर्शेन देहाद्यकलुषस्वचित्प्रमातृतानिभालनप्रवणः, अचिरादेव उन्मिषद्विकासां तुर्यतुर्यातीतसमावेशदशाम् आसादयति। यथोक्तम्—

'विकल्पहानेनै[3]काग्र्यात् क्रमेणेश्वरतापदम्।'

इति श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्। श्रीस्पन्देऽपि।

'यदा क्षोभः[4] प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्।'

इति। श्रीज्ञानगर्भेऽपि।

---

१. मुद्रा—खेचरीमुद्रा, महामुद्रा, विपरीतकरिणी मुद्रा, शक्तिचालनी मुद्रा आदि—ये हठयोग से सम्बद्ध हैं। अन्य मुद्राओं के लिए द्र० 'नित्याषोडशिकार्णव' ३ विश्राम तथा 'योगिनीहृदय' चक्रसङ्केत।

२. बन्ध—तीन प्रकार के हैं १ मूलबन्ध, २ उड्डीयानबन्ध, ३ जालन्धर बन्ध इनका प्राणायाम से सम्बन्ध है।

३. द्र०—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, अधिकरण ४, आ० १, का० ११।

४. निष्यन्द १, कारिका ९।

क्षोभः—'अहमिति प्रत्ययभावरूपः'—स्पन्दकारिकावृत्तिः।

'क्षोभो देहाद्यहम्प्रत्ययरूपः इति श्रीतद्वृत्तौ भट्टश्रीकल्लटः।'

—शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० ६९।

'विहाय सकलाः क्रिया जननि मानसीः सर्वतो,
विमुक्तकरणक्रियानुसृतिपारतन्त्र्योज्ज्वलम् ।
स्थितैस्त्वदनुभावतः सपदि वेद्यते सा परा
दशा नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी ॥' इति ।

दूसरा उपाय बताया जा रहा है—प्राणायाम मुद्रा और बन्ध आदि समस्त पीड़ात्मक व्यवस्था के तोड़ देने से यह सुखोपाय है। हृदय में चित्त को स्थापित करके उक्त युक्ति के अनुसार अपनी स्थिति के प्रतिबन्धक विकल्प को, निश्चिन्त होकर शान्त करता हुआ योगी अविकल्प दशा को प्राप्त करता है। देहादि के कलुष से रहित अपनी चित्प्रमातृता के परिशीलन में प्रवण बन कर वह शीघ्र ही, जिसके विकास का उन्मेष हो रहा है ऐसी तुरीय और तुरीयातीत, दशा को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा है—( पारमेश्वरी सृष्टि ) विकल्प के विनाश एवं एकाग्रता के अभ्यास से क्रमशः ईश्वर पद को प्राप्त कराती है।' श्रीप्रत्यभिज्ञा। स्पन्द कारिका में भी कहा है—

'जब देहादि 'अहं' प्रत्यय रूप क्षोभ लीन हो जाता है तब आत्मा की परम पद में प्रतिष्ठा होती है।'

श्रीज्ञानगर्भ स्तोत्र में भी कहा गया है:—

'ऐ माँ, विकल्प और स्मृति आदि सम्पूर्ण मानसिक क्रियाओं को दूर करके ऊर्ध्व रेचकादि मुद्राबन्धरूप दिव्यकरणक्रियाओं के अनुसरण की परतन्त्रता के त्याग से उज्ज्वल, योगियों द्वारा, तुम्हारी कृपा से, वह परावस्था प्राप्त की जाती है जो तन्द्राहीन तथा समसुखरूप अमृत की निर्झरिणी है।'

अयं च उपायो मूर्धन्यत्वात् प्रत्यभिज्ञायां प्रतिपादितत्वात् आदौ उक्तः। शक्तिसङ्कोचादयस्तु यद्यपि प्रत्यभिज्ञायां न प्रतिपादिताः; तथापि आम्नायिकत्वात् अस्माभिः प्रसङ्गात् प्रदर्श्यन्ते; बहुषु हि प्रदर्शितेषु कश्चित् केनचित् प्रवेक्ष्यति इति।

'शक्तेः सङ्कोच'—इन्द्रियद्वारेण प्रसरन्त्या एव आकुञ्चनक्रमेण उन्मुखीकरणम्। यथोक्तम् आथर्वणिकोपनिषत्सु कठवल्ल्यां चतुर्थवल्लीप्रथममन्त्रे

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन्[१] ॥'

---

१. कठोपनिषद् का मूलपाठ 'अमृतत्वमिच्छन्' है।

इति । प्रसृताया अपि वा कूर्माङ्गसङ्कोचवत् त्राससमये हृत्प्रवेशवच्च सर्वतो निवर्तनम् । यथोक्तम्

यह उपाय सब में उत्तम है और इसका प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में प्रतिपादन किया गया है अतः यह पहले कहा गया। शक्तिसङ्कोच आदि उपाय यद्यपि प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में नहीं प्रतिपादित किए गये तो भी आम्नायसम्मत होने से प्रसङ्गवश दिखाये जा रहे हैं। सम्भव है बहुत से उपायों के प्रदर्शन से किसी उपाय द्वारा किसी व्यक्ति का ( परावस्था में ) प्रवेश हो जाय। शक्तिसङ्कोच से तात्पर्य है—इन्द्रियों द्वारा बहिर्गत शक्ति को खींच कर अन्तर की ओर उन्मुख करना। जैसा कि अथर्ववेदीय कठवल्ली-उपनिषद् की चतुर्थ वल्ली के प्रथम मन्त्र में कहा गया है—

'स्वयम्भू ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है अतः ( मनुष्य ) बाहर की ओर ही देखता है अन्तरात्मा को नहीं; कोई धीर विवेकी पुरुष ही, चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर से लौटा कर अमृत का उपभोग करता हुआ अन्तरात्मा को देखता है।'

अथवा बहिर्गत शक्ति को, भय के अवसर पर जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेट कर भीतर कर लेता है, वैसे ही चारों ओर से निवृत्त करना। जैसा कि कहा है—

'तदपोद्धृते नित्योदितस्थितिः ।' इति ।

'शक्तेर्विकासः' अन्तर्निगूढाया अक्रममेव सकलकरणचक्रविस्फारणेन—

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।'

इति । भैरवीयमुद्रानुप्रवेशयुक्त्या बहिः प्रसरणम् । यथोक्तं कक्ष्यास्तोत्रे ।

'सर्वाः शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः
स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक् ।
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तम्भभूत-[1]
स्तिष्ठन् विश्वाधार एकोऽवभासि ॥'

इति । श्रीभट्टकल्लटेनापि उक्तम्—

१. हाटकस्तम्भ०—जब मरुत् शक्ति हृदय से शिव या शक्ति द्वादशान्त पर्यन्त नहीं जाती और न द्वादशान्त से हृदय में आती है किन्तु सुषुम्ना में दण्डकार रूप से कुम्भकावस्था में रहती है तो—'प्राणदण्डप्रयोगेन पूर्वापरसमीकृतेः'—इस तन्त्रालोक ( आ० ५ श्लो० ५४ ) के अनुसार पूर्वापर अर्थात् प्राणापानवाह के समीकृत होने पर प्राण, विषुवद्रूप का आलम्बन करके

'रूपादिषु परिणामात् तत्सिद्धिः !' इति।

शक्तेश्च सङ्कोचविकासौ, नासापुटस्पन्दनक्रमोन्मिषत्सूक्ष्मप्राणशक्त्या भ्रूभेदनेन क्रमासादितोर्ध्वकुण्डलिनी पदे प्रसरविश्रान्तिदशापरिशीलनम् ; अधः कुण्डलिन्यां च षष्ठवक्त्ररूपायां प्रगुणीकृत्य शक्तिं, तन्मूल-तदग्र-तन्मध्यभूमिस्पर्शावेशः।

'उसके हटा लेने पर नित्योदित स्थिति प्राप्त हो जाती है।'

शक्ति के विकास से तात्पर्य है—बिना किसी क्रम के समस्त इन्द्रियों को फैलाकर—'निमेष और उन्मेष से रहित जिसकी दृष्टि बाहर की ओर तो रहती है किन्तु लक्ष्य अन्तरात्मा की ओर'–इस भैरवी मुद्रा में अनुप्रवेश की युक्ति से, अन्तर्निगूढ शक्ति का बाहर की ओर प्रसार।

जैसा कि कक्ष्या स्तोत्र में कहा गया है—

'दर्शन, श्रवण आदि समस्त शक्तियों को, चित्त द्वारा एक साथ ही चारों ओर अपने अपने वेद्य पदार्थों ( विषयों ) में फेंक कर मध्यभूमि ( सुषुम्ना पथ ) में स्वर्ण स्तम्भ के समान स्थित हे विश्वाधार आप अद्वितीय रूप से अवभासित हो रहे हैं।'

भट्ट कल्लट ने भी कहा है—'रूपादिकों में परिणत होने से उसकी सिद्धि होती है।'

शक्ति का सङ्कोच विकास—भ्रूपृष्ठ में वर्तमान विन्दु का भेदन करके १ अर्धचन्द्र, २ रोधिनी, ३ नाद, ४ नादान्त, ५ शक्ति, ६ व्यापिनी, ७ समना-इनको क्रमशः पार करती हुई सूक्ष्म-प्राण-शक्ति, जब उन्मना-धाम या ऊर्ध्व कुण्डलिनी भूमि में विश्राम करती है तो इसे प्रसार का सङ्कोच कहा जाता है। यह प्राण शक्ति अभ्यासवश क्रमशः जब नासाभ्यन्तरचारी बन जाती है तभी सूक्ष्म होती है। मूलाधार के नीचे मेरुदण्ड के सब से निचले भाग में त्रिकोणाकार अग्नि चक्र है इसे कुलकुण्ड कहते हैं यह षष्ठ वक्त्र रूप अधः कुण्डलिनी पद है यहाँ पूर्वोक्त सूक्ष्म-प्राण-शक्ति को वश में करके उसके (कुलकुण्ड) मूल, अग्र एवं मध्यभाग का स्पर्श करना विकास है

यथोक्तं विज्ञानभट्टारके।

'वह्नेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत्।
केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते॥'

---

दण्डाकार रूप में स्थित होता है। इस दशा में निमेष और उन्मेष का अभाव हो जाता है और इसमें कोई कष्ट भी नहीं होता।

१. सङ्कोच भूमि को वह्नि कहते हैं और विकास को विष। इनको क्रमशः ऊर्ध्वकुण्डलिनीपद और षष्ठवक्त्र रूप अधःकुण्डलिनी भूमि भी कहते हैं।

अत्र वह्निः अनुप्रवेशक्रमेण सङ्कोचभूः, विषस्थानं प्रसरयुक्त्या विकासपदम्, विष्लृ व्याप्तौ इति अर्थानुगमात्।

जैसा कि विज्ञानभैरवतन्त्र में कहा गया है—

'वह्नि और विष के मध्य में सुखमय केवल चित्त को भावना द्वारा डाल दे अथवा प्राण शक्ति से भरित चित्त को मध्य में विधृत करे तो योगी स्मरानन्द से युक्त होता है।'

यहाँ अनुप्रवेश के क्रम से पूर्वोक्त सङ्कोचभूमि ही वह्नि है और विकासपद, 'विष्लृ व्याप्तौ' धातुगत अर्थ के अनुगमन से विष कहा जाता है।

'वाह्योः'—वामदक्षिणगतयोः प्राणापानयोः 'छेदो'—हृदयविश्रान्ति-

---

विज्ञानभैरवतन्त्र के प्रस्तुत ६८ वें श्लोक की शिवोपाध्यायकृत विवृति उद्धृत की जाती है :—

'अनयोः वह्निविषयोः मध्ये मध्यनाड्यां सृष्टिग्रन्थिभूतायाम् आनन्दमयं मनः भावनया क्षिपेत्–चिन्तयेत्। वायुनिर्गमप्रवेशधारणां विहाय मध्यभूते उन्मेषभट्टारके तन्निर्गमप्रवेशकारणे द्वयैकानुसन्धानात्मके तद्धारणया आनन्दमयं चित्तं क्षिपेत्। केवलं आरोहावरोहविषयसम्बन्धरहितं वायुपूर्णं च मध्यनाडी स्थिताक्रमोच्चारानच्कलात्मकप्राणशक्तिभरितं च। ततः स्मरानन्दमयो भवेत्, स्मरानन्देन कामानन्देन युज्यते। सर्वविषयविस्मारकारणत्वात् कामानन्दस्य आनन्दान्तरेभ्यः परत्वम्।

यद्वा वह्निः मेढ्रादूर्ध्वं नाभ्यधोऽङ्गुलानां चतुष्टये अग्निर्नाम पवनाधारः षोडशपवनाधारमध्ये गणितः। विषनामा पवनाधारो मेढ्रमध्ये ज्ञेयः। तयोः पवनाधारयोः सुखमयचित्तनिक्षेपणम्। श्रुतमतप्रकारैव भावना कर्तव्या इति हि योगिसम्प्रदायः।' अर्थात् इन दोनों के बीच सृष्टिग्रन्थि रूप मध्यनाडी में सुखमय चित्त का, भावना के द्वारा निक्षेप करे। वायु की श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी धारणा को छोड़कर वायु के निर्गम और प्रवेश के कारण स्वरूप, दोनों के ऐक्यानुसन्धानात्मक मध्यभूत उन्मेषभट्टारक में (चिन्ताद्वयान्तर्व्यापकतयानुभूयमानः–द्र० स्पन्दकारिका, नि० ३, ९) आनन्दमय चित्त का निक्षेप करें। केवल से तात्पर्य है—आरोह और अवरोहात्मक विषय सम्बन्ध से रहित। 'वायुपूर्णं' का यह अभिप्राय है—मध्यनाड़ी में अक्रमरूप से उच्चरित अनाहतध्वन्यात्मक प्राणशक्ति से पूर्ण। उससे कामानन्द की प्राप्ति होती है। समस्त विषयों की विस्मृति का कारण होने से कामानन्द अन्य आनन्दों से परे है।

पुरःसरम् अन्तः ककारहकारादिप्रायानच्कवर्णोच्चारेण विच्छेदनम्। यथोक्तं ज्ञानगर्भे

'अनच्ककृतायतिप्रसृतपार्श्वनाडीद्वयच्छिदो
विधृतचेतसो हृदयपङ्कजस्योदरे।
उदेति तव दारितान्धतमसः स विद्याङ्कुरो
य एष परमेशतां जनयितुं पशोरप्यलम् ॥' इति

'आदिकोटिः' हृदयम्, अन्तकोटिः द्वादशान्तः[1], तयोः प्राणोल्लास-विश्रान्त्यवसरे निभालनं—चित्तनिवेशनेन परिशीलनम्। यथोक्तं विज्ञानभैरवे।

'वाह' अर्थात् वाम-दक्षिण नाड़ीगत प्राण और अपान का विच्छेद—हृदय देश में विश्रान्ति पूर्वक अन्दर ककार-हकारादिरूप, स्वर रहित वर्णों के उच्चारण के साथ-विच्छेद ही (वाहच्छेद नामक उपाय है)। जैसा कि ज्ञान गर्भ स्तोत्र में कहा है—

'स्वरहीन 'क्' वर्ण के उच्चारण से इडा और पिङ्गला इन दोनों पार्श्व नाड़ियों में प्रसृत वायु का विच्छेद करने वाले चित्तजयी योगी के हृदयकमल के अन्तराल में, घोर अज्ञान को नष्ट करने वाले आपकी विद्या का वह अङ्कुर उदित होता है, जो पशु को परमेश्वर बना देने में समर्थ है।'

आदि कोटि अर्थात् हृदय और अन्त कोटि अर्थात् द्वादशान्त इन दोनों में क्रमशः प्राण के उल्लास (उदय) और विश्रान्ति के अवसर पर चित्त

---

१. द्वादशान्त—यह दो प्रकार का है १ शक्ति द्वादशान्त या कौण्डिली। और दूसरा शिव द्वादशान्त या प्रक्रियान्त। (द्र० तं० आ० ५)

हृदय देश में स्थित पद्म से प्राण का उदय होता है और नासिका से बाहर, बारह अङ्गुल पर्यन्त आकाश में प्राण अस्त होता है; यही प्रदेश, शक्तिद्वादशान्त है। (द्रष्टव्य विज्ञान भै० विवृति) ललाट से ऊपर, कपाल के ऊर्ध्व पर्यन्त, शिर से दो अङ्गुल ऊपर स्थित परव्योम को शिवद्वादशान्त कहते हैं।

द्वादशान्तं ललाटोर्ध्वं कपालोर्ध्वावसानकम्।
द्व्यङ्गुलोर्ध्वं शिरोदेशात् परं व्योम प्रकीर्तितम् ॥—स्वच्छन्दतन्त्र

पिण्ड मन्त्र या ओङ्कार की अकार, उकार, मकार, बिन्दु अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना इन १२ कलाओं से ऊपर ब्रह्मरन्ध्र के ऊर्ध्व देश को द्वादशान्त कहते हैं। इन कलाओं की शरीर में कहाँ कहाँ स्थिति है इसके लिए द्रष्टव्य 'मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य' तृतीय अध्याय—ले० डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी।

का निवेश पूर्वक परिशीलन ( भी एक उपाय है )। जैसा कि विज्ञानभैरवतन्त्र में कहा है :—

'हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसम्पुटमध्यगः।
अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात् ॥'

इति। यथा

'यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत्।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥' इति।

आदिपदात् उन्मेषदशानिषेवणम्।

यथोक्तम्—

'उन्मेषः[1] स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत्।'

इति स्पन्दे। तथा रमणीयविषयचर्वणादयश्च सङ्गृहीताः।

यथोक्तं श्रीविज्ञानभैरवे एव

'जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात्।
भावयेद्भरितावस्थां महानन्दमयो भवेत् ॥
गीतादिविषयास्वादात्समसौख्यैकतात्मनः।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥
यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं सम्प्रकाशते ॥' इति।

एवमन्यदपि आनन्दपूर्णस्वात्मभावनादिकम् अनुमन्तव्यम्। इत्येवमादयः अत्र मध्यविकासे उपायाः ॥ १८ ॥

---

१. उन्मेष—सामान्यतया उन्मेष का अर्थ उदय और निमेष का लय होता है। ईश्वरतत्त्व को उन्मेष और सदाशिव तत्त्व को निमेष कहा जाता है।

'ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः'

—( ई० प्र० का० ३, आ १, अ० ३ )

यहाँ उन्मेष शब्द स्पन्दतत्त्व या 'शिव' का बोधक है। भास्करकण्ठ ने लिखा है :—

'देहाद्रिस्थमनोद्रुमस्थकलनाशाखालिसन्ध्यन्तराद्—
द्रष्टुं जाड्यहरं विमर्शविभवादुन्मेषरूपं रविम्।
लग्ना ये सततं तदेकमयतां पश्यन्त आत्मन्यथो
संसारेऽपि च तत्प्रकाशवशतो भातेऽस्तु तुभ्यं नमः ॥

'हृद्याकाश अर्थात् प्राणापान के अन्तराल में मन और इन्द्रियाँ जिसकी लीन हैं, ऊर्ध्व और अधोगत पद्म सम्पुट के बीच भावना द्वारा प्रविष्ट, अथवा ऊर्ध्वगत पद्म-प्रमाण, अधरगत प्रमेय-इनके बीच में चित्प्रमातात्मक स्वस्वरूप में स्थित अतः अनन्यचित्त योगी, परमसौभाग्य—विश्वेश्वरतात्मक परमानन्द को प्राप्त कर लेता है।' इसके अतिरिक्त—

'संवित् शक्ति के प्रसरण द्वारा पूर्वोक्त प्रदेशों के मध्य जिस किसी प्रदेश में अथवा द्वादशान्त में मन को एकाग्र करे; इस प्रकार चञ्चलता क्षीण होने पर स्वल्प समय में ही असामान्य परभैरवरूपता प्राप्त हो जाती है।' स्पन्दशास्त्र में भी कहा है—

'( एक विषय में व्यापृत चित्त वाले पुरुष में जब अन्य चिन्ता उत्पन्न होती है तो उस चिन्ता का कारण ) उन्मेष को समझना चाहिए; योगी दो चिन्ताओं के बीच में अनुभूयमान इस उन्मेष का स्वयं ध्यान रक्खे।' इसके अतिरिक्त आदि पद से रमणीय विषयों का आस्वादन आदि भी संगृहीत है। जैसा कि श्रीविज्ञानभैरव में ही कहा है—

'मिष्टान्न भोजन, क्षीरपान आदि से उत्पन्न उल्लास-रसानन्द के उत्कर्ष से पूर्ण अवस्था की भावना करने से अनुत्तर सुख की प्राप्ति होती है। गीत, वीणा, रूप, स्पर्श आदि विषयों के चमत्कार ( उपभोग ) से जनित अनुपम सुख में समाहितचित्त योगी को, शाक्त स्पर्शावेश ( तन्मयता ) के कारण ब्रह्मसुख ( तदात्मता ) की प्राप्ति होती है। जहाँ जहाँ ( कामिनी-वदन-कमल आदिक मनोहर वस्तुओं में ) मन लगता हो वहीं मन को स्थिर करे ( चिदानन्दात्मक शिव मैं ही हूँ, यह सौन्दर्य मेरी ही भङ्गिमा है ) ऐसी भावना करे—इस प्रकार वहाँ वहाँ परानन्द स्वरूप प्रकाशित हो जाता है।' इस प्रकार और भी आनन्दपूर्ण स्वात्म भावनादिकों का अनुमान करना चाहिए। ये ही सब मध्य विकास के उपाय हैं॥ १८॥

**मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः, स एव च परमयोगिनः समावेशसमापत्त्यादिपर्यायः समाधिः, तस्य नित्योदितत्वे युक्तिमाह—**

## समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने[1] भूयो भूयश्चिदैक्यामर्शान्नित्योदितसमाधिलाभः॥ १९॥

**आसादितसमावेशो योगीश्वरो व्युत्थाने अपि समाधिरस-संस्कारेण**

---

१. व्युत्थान—समाधि से भिन्न संसारदशा।

क्षीब इव सानन्दं घूर्णमानो, भावराशिं शरदभ्रलवम् इव चिद्गगने[1] एव लीयमानं पश्यन्, भूयो भूयः अन्तर्मुखताम् एवं समवलम्बमानो, निमीलनसमाधिक्रमेण चिदैक्यमेव विमृशन्, व्युत्थानाभिमतावसरे अपि समाध्येकरस एव भवति। यथोक्तं क्रमसूत्रेषु[2]

मध्य के विकास से चिदानन्द का लाभ होता है, और वही परमयोगी की समाधि है जिसके पर्याय हैं—समावेश, समापत्ति आदि। वह समाधि किस प्रकार नित्य उदित रहे इसके लिए युक्ति का निर्देश करते हैं :—

समाधि के संस्कार से सम्पन्न व्युत्थान दशा में बारम्बार चित् के साथ ऐक्य का परिशीलन करने से नित्य उदित ( एकरस ) समाधि का लाभ होता है ॥ १९ ॥

समावेश दशा को प्राप्त कर लेने वाला योगी, व्युत्थित अवस्था में भी समाधि-रस के संस्कार से उन्मत्त सा आनन्दपूर्वक घूमता हुआ, सम्पूर्ण भावराशि ( वस्तु समूह ) को शरद कालीन मेघ-खण्ड के समान विलीन होते हुए देखता है; अधिक से अधिक अन्तर्मुखता का ही आश्रय लेता हुआ, निमीलन-समाधि के क्रम से चिदैक्य का ही विमर्श करता हुआ, बाह्यदशा में भी समाधि के साथ एक रस बना रहता है। जैसा कि क्रमसूत्रों में कहा है :—

'क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः। तत्रादौ बाह्यात् अन्तः प्रवेशः, आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात् जायते; इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः।' इति। अत्रायमर्थः- सृष्टि-स्थिति-संहृति-संविच्चक्रात्मकं क्रमं मुद्रयति, स्वाधिष्ठितम् आत्मसात् करोति येयं तुरीया चितिशक्तिः, तया 'क्रममुद्रया;' 'अन्तरिति'—पूर्णाहन्तास्वरूपया; 'बहिर्मुख' इति, विषयेषु व्यापृतः अपि; 'समाविष्टः'—साक्षात्कृतपरशक्तिस्फारः 'साधकः'—परमयोगी भवति। तत्र च 'बाह्यात्'

---

१. चिद्गगन—चिदाकाश—विमर्शशक्ति। चित् का अर्थ शिव और चिद्गगन का शक्तिः—

'त्वं निरन्तरचिदम्बरात्मिका वेलयाम्ब तुलिता दयाम्बुधेः।
त्वय्यमूर्च्छटिति संविदापगाः पूर्णतां दधति निर्णिकेतनाः॥'
—कालिदासकृता चिद्गगनचन्द्रिका। ( तृ० विमर्श )

२. क्रमसूत्रेषु—क्रमदर्शन ( शक्तिसम्बन्धी ) के प्रतिपादक—क्रमसद्भाव, क्रमोदय, क्रमस्तोत्र, क्रमकेलि, क्रमवासना आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त क्रमसूत्र भी एक ग्रन्थ था। द्रष्टव्य—तन्त्रालोक तथा 'आगमदर्शनविमर्शः'—डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय कृत।

ग्रस्यमानात् विषयग्रामात् 'अन्तः'-परस्यां चितिभूमौ, ग्रसनक्रमेणैव 'प्रवेशः'-समावेशो भवति। 'आभ्यन्तरात्' चितिशक्तिस्वरूपात् च साक्षात्कृतात् 'आवेशवशात्'-समावेशसामर्थ्यात् एव 'बाह्यस्वरूपे'-इदन्तानिर्भासे विषयग्रामे, वमनयुक्त्या[1] 'प्रवेशः'-चिद्रसाश्यानताप्रथनात्मा समावेशो जायते।

'अन्तःस्वरूप क्रममुद्रा द्वारा, बहिर्मुख होने पर भी साधक, समाधिस्थ ही रहता है। वहाँ पहले बाह्य से अन्तः में प्रवेश होता है तथा आभ्यन्तर से बाह्य स्वरूप में भी प्रवेश, समाधिबल से सम्पन्न होता है—इस प्रकार यह मुद्राक्रम बाह्य और आभ्यन्तर से संयुक्त होता है।'

इसका यह अर्थ है—

सृष्टि, स्थिति और संहारसंवित् समूहरूप क्रम को जो मुद्रित करती है—आत्मसात् करती है, वह तुरीय चिति शक्ति ही 'क्रममुद्रा' है। इस पूर्णाहन्तास्वरूप क्रममुद्रा द्वारा, विषयों में व्यापृत रहने पर भी जिसने पर शक्ति के विकास का साक्षात्कार कर लिया है वह परमयोगी हो जाता है। और वहाँ बाह्य अर्थात् निगले जाते हुए विषय समूह से, अन्तः-पराचिति भूमि में ग्रसन क्रम से समावेश होता है। और आभ्यन्तर अर्थात् साक्षात्कृत चितिशक्तिस्वरूप से समावेश के सामर्थ्य से ही, इदन्तात्मक विषयसमूह में वमन की युक्ति से प्रवेश—चिद्रस की निविड़ता का प्रसारस्वरूप समावेश सम्पन्न होता है।

इति 'सबाह्याभ्यन्तरः अयं 'नित्योदितसमावेशात्मा, 'मुदो' हर्षस्य वितरणात् परमानन्दस्वरूपत्वात्, पाशद्रावणात्, विश्वस्य अन्तः तुरीयसत्तायां मुद्रणात् च मुद्रात्मा, क्रमः अपि सृष्ट्यादिक्रमाभासकत्वात् तत्क्रमाभासरूपत्वात् च 'क्रम' इति अभिधीयते इति॥ १९॥

इदानीम् अस्य समाधिलाभस्य फलमाह—

**तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारिनिजसंविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम्॥**

नित्योदिते समाधौ लब्धे सति, 'प्रकाशानन्दसारा'-चिदाह्लादैकघना 'महती मन्त्रवीर्यात्मिका'—सर्वमन्त्रजीवितभूता 'पूर्णा' पराभट्टारिकारूपा या इयम् 'अहन्ता—अकृत्रिमः स्वात्मचमत्कारः[2], तत्र

१. वमनयुक्त्या—सम्पूर्ण विषय समूह मेरे द्वारा ही, उद्गीर्ण है—सूक्ष्म रूप से अन्तःस्थित जगत् जाल बाह्य रूप में प्रकाशित है—यही वमनयुक्ति है।

२. चमत्कारः—( क ) 'चमतः भुञ्जानस्य यत्करणं संरम्भः सङ्केतप्रदर्शनं स चमत्कारः'। ( ई० प्र० वि० )

'आवेशात्' 'सदा' कालाग्न्यादेः चरमकलापर्यन्तस्य विश्वस्य यौ 'सर्ग-संहारौ' विचित्रौ सृष्टिप्रलयौ—'तत्कारि' यत् 'निजं संविद्देवताचक्रं' 'तदैश्वर्यस्य' 'प्राप्तिः'—आसादनं 'भवति' प्राकरणिकस्य परमयोगिन इत्यर्थः; 'इति' एतत् सर्वं शिवस्वरूपमेव इति उपसंहारः—इति सङ्गतिः। तत्र यावत् इदं किञ्चित् संवेद्यते, तस्य संवेदनमेव स्वरूपं; तस्यापि अन्तर्मुखविमर्शमयाः प्रमातारः तत्त्वम् ; तेषामपि विगलितदेहाद्युपाधि-सङ्कोचाभिमाना अशेषशरीरा सदाशिवेश्वरतैव सारम् ; अस्या अपि प्रकाशैकसद्भावापादिताशेषविश्वचमत्कारमयः श्रीमान् महेश्वर एव परमार्थः; न हि पारमार्थिकप्रकाशावेशं विना कस्यापि प्रकाशमानता

---

( ख ) 'स्वात्मनि अनन्यापेक्षे विश्रमणम् ।' एवं भुञ्जानतारूपं चमत्वं, तदेव करोति संरम्भे, विमृशति न अन्यत्र अनुधावति ।

( ग ) चमदिति क्रियाविशेषणम्, अखण्ड एव वा शब्दो निर्विघ्ना-स्वादनवृत्तिः ।

( घ ) चमदिति वा आन्तरस्पन्दान्दोलनोदितपरामर्शमयशब्दनाव्यक्ता-नुकरणम् ।

( ङ ) काव्यनाट्यरसादावपि भाविचित्तवृत्त्यन्तरोदयनियमात्मकविघ्नरहित एव आस्वादो रसनात्मा चमत्कार इति उक्तमन्यत्र ।

—ई० प्र० वि० वि०, २ क्रियाधिकार, वि० ४ पृ० २५१

'चमु अदने' इस धातु से चमत् शब्द की निष्पत्ति होती है । काव्य अथवा गीतादि के रस एवं आत्मानन्द के निर्विघ्न रूप से उपभोग ( आस्वादन ) द्वारा जनित संरम्भ-उत्साह या शिरश्चालनादि सङ्केतप्रदर्शन को चमत्कार कहते हैं । आत्मानन्द की अनुभूति के पक्ष में यह अन्य से निरपेक्ष स्वात्मा में विश्रान्ति मात्र है और काव्यरस की अनुभूति के पक्ष में 'वृत्त्यन्तर के उदयरूप विघ्न से रहित एकमात्र प्रासङ्गिक रस की चर्वणा या रसनात्मक आस्वाद, चमत्कार कहा जाता है । इसको आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती ( नाट्यशास्त्र ६।५।३६ ) में 'आ समन्तात् साधारणी-भावेन निर्विघ्नप्रतिपत्तिवशान्मनसा इन्द्रियान्तरविघ्नसम्भावनाशून्येन स्वाद-यन्ति स्वपरविवेकशून्यस्वादचमत्कारपरवशा'······इस रूप में स्पष्ट किया है ।

'विस्मयो योगभूमिकाः' ॥ १।१२ उ०:—

शिव सूत्र के इस सूत्र की टीका भी द्रष्टव्य है ।

१. कालाग्नि—निवृत्ति कला के अन्तर्गत कालाग्निभुवनेश नामक रुद्र । ब्रह्माण्ड कटाह के अन्दर सब से नीचे इनका निवास है ।

घटते—स च परमेश्वरः स्वातन्त्र्यसारत्वात् आदिक्षान्तामायीयशब्द-[1] राशिपरामर्शमयत्वेनैव एतत्स्वीकृतसमस्तवाच्यवाचकमयाशेषजगदान-[2][3] न्दसद्भावापादनात् परं परिपूर्णत्वात् सर्वाकाङ्क्षाशून्यतया आनन्दप्रसर-निर्भरः; अत एव अनुत्तराकुलस्वरूपात्[4] अकारात् आरभ्य शक्तिस्फार-रूपहकलापर्यन्तं[5] यत् विश्वं प्रसृतं, क्षकारस्य प्रसरशमनरूपत्वात्; तत् अकारहकाराभ्यामेव सम्पुटीकारयुक्त्या प्रत्याहारन्यायेन अन्तः स्वीकृतं सत् अविभागवेदनात्मकबिन्दुरूपतया स्फुरितम् अनुत्तर एव विश्राम्यति; इति शब्दराशिस्वरूप एव अयम् अकृतको विमर्शः। यथोक्तम्

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहम्भावो हि कीर्तितः।[6]
उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः॥
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च।'

इस प्रकार यह नित्योदित—बाह्याभ्यन्तरसमावेश, (१) 'मुद' अर्थात् हर्ष के वितरण करने से परमानन्दस्वरूप होने, (२) पाशों को नष्ट करने तथा (३) विश्व को अन्तः—तुरीय सत्ता में मुद्रित करने के कारण मुद्रात्मा और सृष्टयादि क्रम का आभासक होने के कारण तथा क्रमाभासस्वरूप होने से 'क्रम' के नाम से कहा जाता है॥ १९॥

---

१. अमायीय शब्दराशि—द्र० भूमिका।

२. वाच्यवाचकमय—षडध्वविस्तार रूप, वाचक–मन्त्र, वर्ण और पदाध्वा, वाच्य–कला, तत्त्व, और भुवनाध्वा।

३. जगदानन्द—अनुत्तर या शिवता के विकास के लिए प्राणोच्चार के कई सोपान हैं, उनमें पहले (१) निरानन्द, पश्चात् (२) परानन्द तदनन्तर (३) ब्रह्मानन्द (४) महानन्द (५) चिदानन्द और जगदानन्द–यही विकास क्रम है। शिव की सर्वमयता ही जगदानन्द है और उत्तीर्णता या मातृ-मान-मेयात्मक उपाधिहीनता चिदानन्द है। द्रष्टव्य–तन्त्रालोक, आ० ५ श्लोक ४४–५२।

४. अनुत्तराकुलस्वरूपात्—अनुत्तर और अकुल ये परमशिव के नामान्तर हैं; ये 'अ' वर्ण के भी पर्याय हैं।

५. कला-वर्ण—'अकारादिक्षपर्यन्ताः कलास्ताः शब्दकारणम्।
मातरः शक्तयो देव्यो रश्मयश्च कलाः स्मृताः॥ २०-२१
—शिवसूत्रवार्तिक, प्रथम प्रकाश

६. द्र० अजडमातृसिद्धि, श्लो० २२, २३।

अब इस समाधिलाभ का फल बताते हैं—

तब प्रकाशानन्दसार महामन्त्रवीर्यात्मक पूर्ण अहन्ता के साथ अभेद होने से सदा सब प्रकार की सृष्टि और लय करने वाली अपनी संवित् शक्तियों पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है; इति शिवम् ॥ २० ॥

नित्य उदित समाधि के उपलब्ध हो जाने पर, चिदानन्दघन, सब मन्त्रों की प्राणरूप, पराभट्टारिका अहन्ता अर्थात् अकृत्रिम स्वात्मचमत्कार से ( योगी ) अभिन्न हो जाता है। और तब कालाग्नि से लेकर शान्त्यतीता ( चरम कला ) पर्यन्त विश्व के विचित्र सृष्टि और प्रलय करनेवाली संवित् शक्तियों का ऐश्वर्य प्रस्तुत परमयोगी को प्राप्त होता है। यह सब शिव स्वरूप ही है—यह उपसंहार है। इस प्रकार सूत्रगत शब्दों की संगति समझनी चाहिए। इस संसार में जो कुछ संवेद्य है वह संवेदन स्वरूप ही है और उसके भी तत्त्व हैं अन्तर्मुख विमर्शमय प्रमातृगण। जिसमें देहादि उपाधि रूप संकोच का अभिमान नष्ट हो गया है ऐसी समस्त शरीरों में व्याप्त सदाशिवेश्वरता ही, उन प्रमाताओं का भी सार है। और इसका भी सार या परमार्थ है प्रकाश के साथ समग्र विश्व की एकता सम्पादन रूप चमत्कार से पूर्ण श्रीमान् महेश्वर ! पारमार्थिक प्रकाशावेश के विना कुछ भी प्रकाशित नहीं होता। वह परमेश्वर, स्वातन्त्र्यसार होने से 'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त अमायिक शब्दराशि के परामर्श से पूर्ण होने के कारण ही तथा इसके द्वारा स्वीकृत समस्त वाच्यों और वाचकों से पूर्ण-अशेष जगत् रूप निजानन्द के सद्भाव की सम्पत्ति से परिपूर्ण, समस्त आकाङ्क्षाओं से शून्य तथा आनन्द के प्रसर से सर्वथा भरित है। अत एव अनुत्तर और अकुलरूप अकार से लेकर शक्ति-विस्तारात्मक 'ह' कला ( वर्ण ) पर्यन्त जो विश्व फैला हुआ है—'क्ष' तो प्रसार की समाप्ति का सूचक है—उस अकार और हकार से सम्पुटित या प्रत्याहारन्याय से उन दोनों के अन्दर स्वीकृत विश्व, अभिन्न वेदनात्मक बिन्दुरूप से स्फुरित होकर अनुत्तर पद में ही लीन होता है। इस प्रकार यह स्वाभाविक विमर्श शब्दराशि स्वरूप ही है। जैसा कि कहा है—

प्रकाश अर्थात् नील, सुख आदि की आत्मा में विश्रान्ति या लय को अहम्भाव या पराहन्तापरामर्श कहा गया है; समस्त अपेक्षाओं के निरुद्ध होने पर वही विश्रान्ति ( तृप्ति ), स्वातन्त्र्य, मुख्यकर्तृत्व और ऐश्वर्य के नाम से कही जाती है।

**इति। एषैव च अहन्ता सर्वमन्त्राणाम् उदयविश्रान्तिस्थानत्वात् एतद्बलेनैव च तत्तदर्थक्रियाकारित्वात् महती वीर्यभूमिः। तदुक्तम्**

'तदाक्रम्य[1] बलं मन्त्राः.........।' इत्यादि
............'त एते शिवधर्मिणः[2] ॥

इत्यन्तं श्रीस्पन्दे। शिवसूत्रेषु अपि

'महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः[3],' (१ उ०, २२ सू०)

इति। तदत्र महामन्त्रवीर्यात्मिकायां पूर्णाहन्तायाम् 'आवेशो'—देहप्राणादिनिमज्जनात् तत्पदावाप्त्यवष्टम्भेन देहादीनां नीलादीनामपि तद्रसाप्लावनेन तन्मयीकरणम्। तथा हि देहसुखनीलादि यत् किञ्चित् प्रथते, अध्यवसीयते, स्मर्यते, सङ्कल्प्यते वा तत्र सर्वत्रैव भगवती चितिशक्तिमयी प्रथा भित्तिभूतैव स्फुरति;—तदस्फुरणे कस्यापि अस्फुरणात् इति उक्तत्वात्। केवलं तथा स्फुरन्त्यपि सा, तन्मायाशक्त्या अवभासितदेहनीलाद्युपरागदत्ताभिमानवशात् भिन्नभिन्नस्वभावा इव भान्ती ज्ञानसङ्कल्पाध्यवसायादिरूपतया मायाप्रमातृभिः अभिमन्यते; वस्तुतस्तु एकैव असौ चितिशक्तिः। यथोक्तम्

याँ[4] चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥ इति।

तथा—

मायाँ[5]शक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।
कथिता ज्ञानसङ्कल्पाध्यवसायादिनामभिः॥ इति।

एवम् एषा सर्वदशासु एकैव चितिशक्तिः विजृम्भमाणा यदि तदनुप्रवेश-तदवष्टम्भयुक्त्या समासाद्यते, तत् तदावेशात्—पूर्वोक्तयुक्त्या करणोन्मीलननिमीलनक्रमेण सर्वस्य सर्वमयत्वात् तत्तत्संहारादौ अपि 'सदा सर्वसर्गसंहारकारि' सत् 'सहजसंवित्तिदेवताचक्रम्—'अमायीयान्त-

---

१. द्रष्टव्य-पृ० ३९ टि० २।

२. तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः। सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिणः—स्पन्दकारिका, २, नि० २)

३. महाह्रद—परा भट्टारिका संवित्, इच्छाशक्तिप्रमुख स्थूल प्रमेय पर्यन्त विश्व-रचना करती हुई खेचरीचक्र (समूह) आदि शक्तियों के प्रवाह के प्रवर्तकत्व, स्वच्छता, अनावृतत्व और गंभीरता इन समान धर्मों के कारण महाह्रद या अगाध जलाशय कही जाती है। द्र० शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० ४४।

४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ज्ञानाधिकार, आ० ७, श्लो० १।

५. " " आ० ५, श्लो० १८।

बहिष्करणमरीचिपुञ्जः, तत्र ईश्वरता साम्राज्यं परभैरवात्मता, तत्प्राप्तिः भवति परमयोगिनः। यथोक्तम्—

यदा[1] त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ।
नियच्छन्भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत्॥ इति।

अत्र एकत्र इति।

'एकत्रा[2]रोपयेत् सर्वम्…………। इति।

चित्सामान्यस्पन्दभूः उन्मेषात्मा व्याख्यातव्या। तस्य इति अनेन

'पुर्य[3]ष्टकेन संरुद्धः……………।' इति।

उपक्रान्तं पुर्यष्टकम् एव परामृष्टव्यम्; न तु यथा विवरणकृतः 'एकत्र सूक्ष्मे स्थूले शरीरे वा' इति व्याकृतवन्तः।

यही अहन्ता समस्त मन्त्रों के उदय और विश्रान्ति का स्थान है; इसके बल से ही भिन्न भिन्न प्रयोजनों की सिद्धि होती है अतः इसे महती वीर्यभूमि कहा गया है। जैसा कि स्पन्दशास्त्र में कहा है—

'उस निरावरण चिद्रूप बल को अधिष्ठित करके मन्त्र, सर्वज्ञत्व आदि सामर्थ्य से युक्त होकर ( अनुग्रहादि स्वाधिकार में प्रवृत्त होते हैं जैसे देहधारियों में इन्द्रियाँ )।'

( और अधिकार निवृत्त होने पर साधक के चित्त के साथ माया-कालुष्य से रहित एवं शान्त होकर उसी शाक्तबल में लीन हो जाते हैं ) इस लिए वे मन्त्र शिवात्मक ही हैं। शिव सूत्रों में भी—

'महाह्रद अर्थात् पराशक्ति के तादात्म्य विमर्श द्वारा मन्त्रवीर्य का अनुभव होता है।' ऐसा कहा है।

यहाँ महामन्त्रवीर्य रूप पूर्णाहन्ता में आवेश से तात्पर्य है—देह-प्राण आदि के निमज्जन ( विलय ) से पराहन्ता पद की प्राप्ति द्वारा, देहादिकों एवं नीलादिकों का भी उस रस में डूबने से तन्मयीकरण। जैसे—देह, सुख, नील आदि जो आन्तर या बाह्य विषय प्रकाशित होता है, ( बुद्धि के द्वारा ) निश्चित किया जाता है, ( मन के द्वारा ) स्मृति या संकल्प का विषय बनता है वहाँ सर्वत्र भगवती

---

१. स्पन्दकारिका, निष्यन्द ३ सं० ५१।

२. प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेज्ज्ञानेनालोच्य गोचरम्।
एकत्रारोपयेत् सर्वं ततोऽन्येन न पीड्यते॥ स्पन्द ४४ नि० ३।

३. तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिवर्तिना।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थं प्रत्ययोद्भवम्॥ स्पन्द०, ४९, नि० ३॥

चितिशक्तिमयी ख्याति ही आधार भूमि बन कर स्फुरित होती है। और यदि वह स्फुरित न हो तो किसी की भी स्फुरणा सम्भव नहीं—यह कहा गया है। केवल भित्ति रूप से स्फुरित होती हुई वह चिति शक्ति, अपनी माया द्वारा अवभासित देह-नीलादि विषयों के उपराग ( तादात्म्य ) से जनित अभिमान के कारण भिन्न भिन्न स्वभाव वाली सी प्रतीत होती है। और मायाप्रमातृगण ( जीव ) उस एक शक्ति को ही 'यह ज्ञान है, सङ्कल्प है, निश्चय है' आदि भिन्न भिन्न रूपों में मानने लगते हैं। वास्तव में तो यह चिति शक्ति एक ही है। जैसा कि कहा है—'भिन्न भिन्न पदार्थों के, देश-काल-परिपाटी रूप क्रम से उपरक्त, ( सब वस्तुओं की स्वप्रकाश रूप ) जो यह परिच्छिन्न प्रतिभा है, पारमार्थिक रूप में प्रकाशमात्र होने के कारण वही अक्रम, अनन्त, महेश्वर अथवा देश-काल और स्वरूपगत परिच्छेदों से रहित चिद्रूप प्रमाता ही है।'

और 'विभु की माया शक्ति द्वारा भिन्न भिन्न बाह्य और आभ्यन्तर वस्तु-समूह का विश्रान्ति-स्थान, वही प्रत्यवमर्शात्मक परावाक् रूप चिति, ज्ञान, सङ्कल्प, अध्यवसाय, स्मृति और संशय के नाम से कही गई है।'

इस प्रकार सब दशाओं में फैली हुई एक ही चिति शक्ति, यदि उसमें प्रवेश और स्थिरता की युक्ति से प्राप्त कर ली जाती है तो उसमें समाहित होने से पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार बाह्य एवं अन्तःकरणों के उन्मीलन एवं निमीलन क्रम से सब वस्तुओं के सर्वमय होने के कारण उस उस वस्तु के संहारादि में भी सदा सर्व सृष्टि और संहार करने वाला जो अमायीय आभ्यन्तर और बाह्य मरीचि ( शक्ति ) पुञ्ज है, उसमें प्रभुत्व स्थापित हो जाता है अर्थात् परमयोगी को परमेश्वररूपता प्राप्त हो जाती है। जैसा कि कहा है :—

'जब योगी चिति शक्ति में ही अपने चित्त को लीन कर देता है तब सुख-दुःखादि संवेदनों के लय और उदय को नियन्त्रित करता हुआ भोक्तृत्व पद को प्राप्त करके सर्वाधिपति बन जाता है।'

इसमें 'एकत्र' शब्द की—'सब कुछ एकत्र आरोपित करे'—इसके अनुसार, 'उन्मेषात्मक चित्सामान्यस्पन्दभूमि' ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। 'तस्य' शब्द की—'पुर्यष्टक से बंधा हुआ—इस कारिका में कहे गये पुर्यष्टक को ग्रहण करना चाहिए। विवरणकार भट्ट कल्लट ने—'एकत्र अर्थात् सूक्ष्म या स्थूल शरीर में' ऐसी व्याख्या की है यह ठीक नहीं।

**स्तुतं च मया**

**'स्वतन्त्रश्रितिचक्राणां चक्रवर्ती महेश्वरः।**
**संवित्तिदेवताचक्रजुष्टः कोऽपि जयत्यसौ॥'**

इति। इतिशब्द उपसंहारे, यत् एतावत् उक्तप्रकरणशरीरं तत् सर्वं 'शिवम्'—शिवप्राप्तिहेतुत्वात्, शिवात् प्रसृतत्वात् शिवस्वरूपाभिन्नत्वाच्च शिवमयमेव इति शिवम्॥

देहप्राणसुखादिभिः प्रतिकलं संरुध्यमानो जनः,
पूर्णानन्दघनामिमां न चिनुते माहेश्वरीं स्वां चितिम्।
मध्येबोधसुधाब्धि विश्वमभितस्तत्फेनपिण्डोपमं,
यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः॥

येषां वृत्तः शाङ्करः शक्तिपातो येऽनभ्यासात्तीक्ष्णयुक्तिष्वयोग्याः।
शक्ता ज्ञातुं नेश्वरप्रत्यभिज्ञामुक्तस्तेषामेष तत्त्वोपदेशः॥

मैंने भी एक स्तुति में कहा है :—

'अन्तः और बाह्य करणों की अधिष्ठात्री संवित् शक्तियों के समुदाय से सेवित, चितिमण्डल का चक्रवर्ती सम्राट्, स्वतन्त्र कोई महेश्वर, सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान है।'

'इति' शब्द उपसंहार का बोधक है, जो कुछ इस ग्रन्थ में कहा गया है सब शिव है—क्योंकि इससे शिव की प्राप्ति होती है, यह शिव से ही उत्पन्न है, शिवस्वरूप से अभिन्न है अथ च शिवमय ही है। इति शिवम्।

'स्वप्न, जागरण और निद्रादि कलाओं में देह, प्राण और सुखादि द्वारा बाँधा जाता हुआ मनुष्य, पूर्णानन्दघन अपनी इस माहेश्वरी चिति को नहीं पहचानता। ज्ञानात्मक अमृत-समुद्र के बीच, चारों ओर फेनपिण्ड के समान फैले हुए इस विश्व को जो देखे वह साक्षात् अद्वितीय शिव है—यह उपदेश द्वारा सूचित किया गया।'

'जिनके अन्दर भगवान् शङ्कर की अनुग्रह-शक्ति का अवतरण हो गया है, जो अनभ्यासवश तीक्ष्ण तर्कों को नहीं समझ सकते तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा को जानने में असमर्थ हैं उनके लिए यह तत्त्वोपदेश है।'

समाप्तमिदं प्रत्यभिज्ञाहृदयम्॥
कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनः
श्रीमतो राजानकक्षेमराजाचार्यस्य॥ शुभमस्तु॥

यह प्रत्यभिज्ञाहृदय समाप्त हुआ॥

माननीय महामाहेश्वर आचार्यवर्य श्रीमान् अभिनवगुप्त के पादपद्मोपजीवी
शिष्य श्रीमान् राजानक क्षेमराजाचार्य की यह कृति है॥

शुभ हो॥



# परिशिष्ट

## [1]षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहः

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत्स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥ १ ॥
इच्छा सैव स्वच्छा सन्ततसमवायिनी सती शक्तिः ।
सचराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निजनिलीनस्य ॥ २ ॥
स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्माहन्तया समाच्छाद्य ।
निवसन् स एव निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिहितः ॥ ३ ॥
विश्वं पश्चात्पश्यन्निदन्तया निखिलमीश्वरो जातः ।
सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः ॥ ४ ॥
माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु ।
नित्यं तस्य निरङ्कुशविभवं वेलेव वारिधिं रुन्धे ॥ ५ ॥
स तया परिमितमूर्तिः सङ्कुचितसमस्तशक्तिरेष पुमान् ।
रविरिव सन्ध्यारक्तः संहृतशक्तिः स्वभासनेऽप्यपटुः ॥ ६ ॥

---

१ काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली में राजानक आनन्द के विवरण के साथ अज्ञातकर्तृक षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह छपा है । सम्भवतः विवरणकार को भी इन आर्याओं के रचयिता का ज्ञान नहीं था । इसीलिए वे लिखते हैं—'कश्चिन्महामाहेश्वरः परमेशशक्तिपातानुगृहीतः तत्त्वक्रमप्रक्रियां आर्याभिरेकविंशत्या समुपनिबबन्ध' । वस्तुतः ये आर्यायें अमृतानन्द योगी के 'सौभाग्यसुभगोदय' नामक ग्रन्थ से ली गई होंगी । कालान्तर में प्रतिलिपिकार की भूल से लेखक का नाम छूट गया होगा और छत्तीस तत्त्वों का निर्देश होने के कारण 'षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह' यह आख्या प्रचलित हो गई होगी । 'योगिनीहृदय' के मन्त्रसङ्केत-निरूपण नामक प्रकरण के तेतीसवें श्लोक की 'दीपिका' टीका में अमृतानन्द ने स्पष्ट लिखा है—'तत्त्वानां लक्षणानि मयैव सौभाग्यसुभगोदये निरूपितानि ।' इसके अनन्तर सामान्य पाठान्तरों के साथ वहीं ये आर्यायें उद्धृत हैं । इसके पूर्व 'मन्त्रसङ्केत निरूपण' के अन्तर्गत सत्रहवें श्लोक की 'दीपिका' में अन्य पचीस आर्यायें भी उद्धृत मिलती हैं, वहाँ भी दीपिकाकार ने लिखा है—'अयमेवार्थो मया सौभाग्यसुभगोदये प्रपञ्चितः ।' इससे स्पष्ट है कि सौभाग्यसुभगोदय विस्तृत ग्रन्थ था, ये इक्कीस कारिकायें उसी का अंश मात्र हैं ।

सम्पूर्णकर्तृताद्या बह्वयः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य ।
सङ्कोचात्सङ्कुचिताः कलादिरूपेण रूढयन्त्येनम् ॥ ७ ॥
तत्सर्वकर्तृता सा सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा ।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ॥ ८ ॥
सर्वज्ञताऽस्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा ।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः ॥ ९ ॥
नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्तस्यैव परिमिता तु सती ।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वतां याता ॥ १० ॥
सा नित्यताऽस्य शक्तिर्निकृष्य निधनोदयप्रदानेन ।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात्कालतत्त्वरूपेण ॥ ११ ॥
याऽस्य स्वतन्त्रताख्या शक्तिः सङ्कोचशालिनी सैव ।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः ॥ १२ ॥
इच्छादित्रिसमष्टिः शक्तिः शान्ताऽस्य सङ्कुचद्रूपा ।
सङ्कलितेच्छाद्यात्मक-सत्त्वादिकसाम्यरूपिणी तु सती ॥ १३ ॥
बुद्ध्यादिसामरस्य-स्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृतिः ।
इच्छाऽस्य रजोरूपाऽहङ्कृतिरासीदहम्प्रतीतिकरी ॥ १४ ॥
ज्ञानमपि सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः ।
तस्य क्रिया तमोमय-मूर्तिर्मन उच्यते विकल्पकरी ॥ १५ ॥
वामादिपञ्चभेदः स एव सङ्कुचितविग्रहो देवः ।
ज्ञानक्रियोपराग-प्राधान्याद्द्विविधविषयरूपोऽभूत् ॥ १६ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शन-जिह्वा-घ्राणानि बोधकरणानि ।
शब्दस्पर्शौ रूपं रसगन्धौ चेति भूतसूक्ष्माणि ॥ १७ ॥
अयमेवातिनिकृष्टो जातो भूतात्मनापि भूतेशः ।
गगनमनिलश्च तेजः सलिलं भूमिश्च पञ्चभूतानि ॥ १८ ॥
श्रोत्रादिकरणवेद्याः शब्दाद्यास्तानि वेदकान्येषाम् ।
वचनकरी वागासीत् पाणिः स्यात्करणभूत आदाने ॥ १९ ॥
गमन-विसर्गानन्द-त्रितये पादादिकं करणम् ।
गन्धवती भूमिः स्यादापः सांसिद्धिकद्रवास्तेजः ॥ २० ॥
उष्णस्पर्शमरूपस्पर्शो वायुरम्बरं सशब्दम् ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं वन्दे कौलं कुलातिगं शम्भुम् ॥ २१ ॥

# पारिभाषिकशब्दानुक्रमः



# आचार्यनामानुक्रमणा



—ooXoXoo—

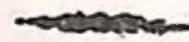
# ग्रन्थनामानुक्रमणी





# श्लोकानुक्रमणिका





अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्भा संस्कृत भवन, पो० बा० नं० ११६०, चौक, वाराणसी-१
चौखम्भा पब्लिकेशन्स, ४२६२/३, अंसारी रोड
दरिया गंज, नई दिल्ली-२